विचार के पत्र विकार के नाम

डॉ. शुद्धात्मप्रभा

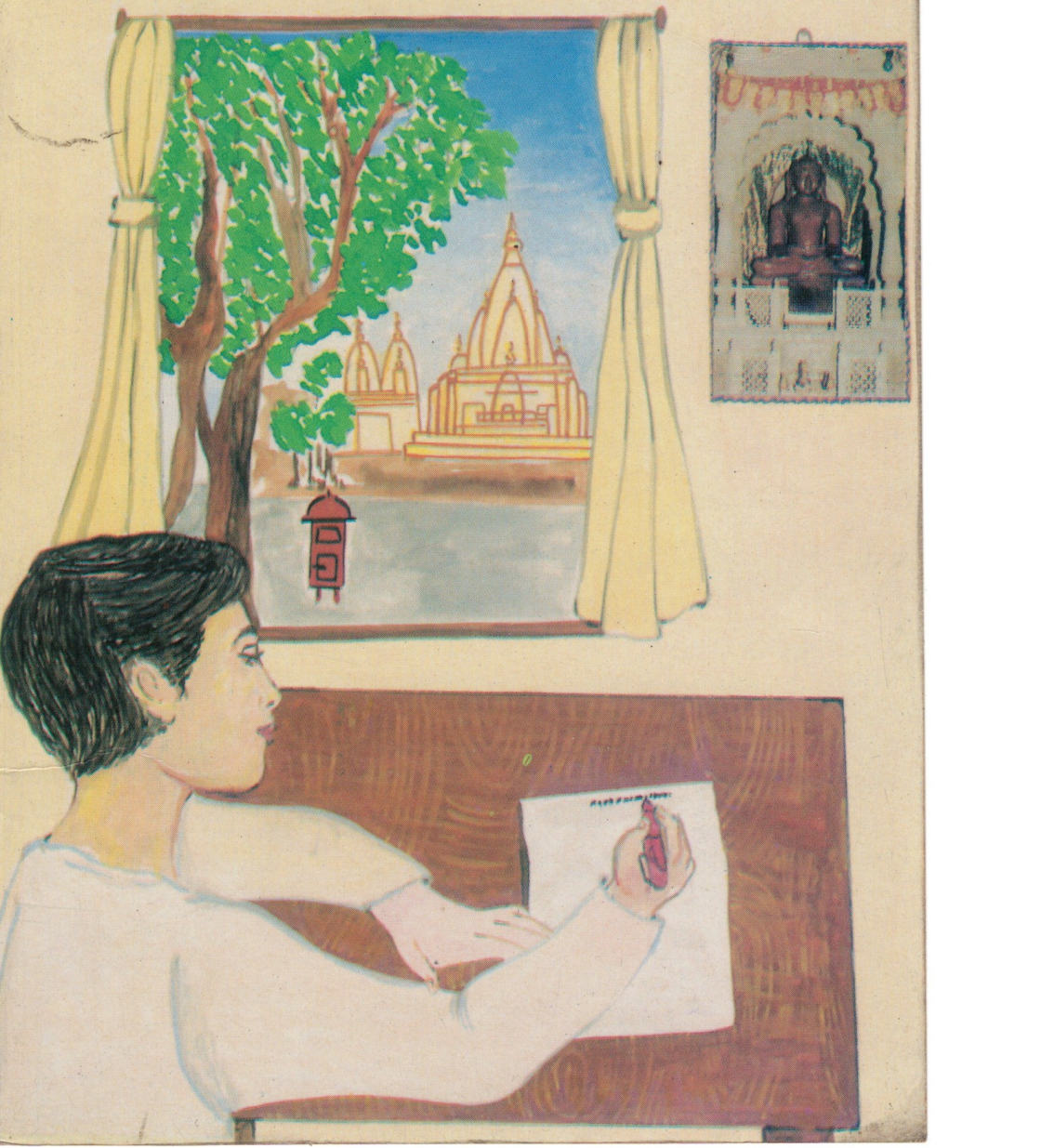

विचार के पत्र विकार के नाम

लेखिका :
डॉ. शुद्धात्मप्रभा
एम.ए., पी-एच.डी.

प्रकाशक :
अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन
ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथम संस्करण : ५०००
२३ फरवरी, १९९६ ई.

मूल्य : छह रुपए

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.
एम.आई. रोड,
जयपुर

प्रकाशकीय

डॉ. शुद्धात्मप्रभा की नवीनतम कृति "**विचार के पत्र विकार के नाम**" प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

वैसे तो पत्रशैली साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने जो पत्र अपनी पुत्री इन्दिरा के नाम जेल से लिखे थे, वे साहित्य की अद्‌भुत निधि बन गये हैं। इसीप्रकार श्रीमद् राजचन्द्र द्वारा विभिन्न मुमुक्षुओं को लिखे गये पत्र भी "श्रीमद् राजचन्द्र" नाम से प्रकाशित होकर अध्यात्म जगत की निधि बन गये हैं; किन्तु इस कृति की तुलना उनसे नहीं की जा सकती है; क्योंकि वे पत्र तो वास्तविक थे। उन्हें साहित्य निर्माण के उद्देश्य से नहीं लिखा गया था। वे एकदम व्यक्तिगत पत्र थे, जो अपनी विषयवस्तु की विशेषता के कारण साहित्य बन गये, किन्तु इस कृति में लिखे गये पत्र उद्देश्यविशेष से लिखे गये पत्र हैं और इसके पात्र भी एकदम काल्पनिक हैं, जिनका सृजन स्वयं लेखिका ने अपनी बात को प्रस्तुत करने के लिए किया है। लेखिका ने 'अपनी बात' में स्वयं ही स्पष्ट किया है कि वे आज के पथभ्रष्ट युवाओं को कुछ सन्देश देना चाहती हैं, युवा वर्ग के चिन्तन को नई दिशा देना चाहती हैं।

इस कृति में आज के युवाओं की समस्यायें विकार की ओर से लिखे गये पत्रों के माध्यम से प्रस्तुत की गई हैं और उनका समुचित समाधान विचार की ओर से लिखे गये पत्रों के माध्यम से किया गया है।

यद्यपि इस कृति के दोनों पात्र हमउम्र हैं; तथापि उनमें न केवल विचार-भिन्नता है, अपितु विकार की अपेक्षा विचार अधिक विचारशील है, परिपक्व है, प्रौढ़ है। विचार और विकार नाम भी सार्थक हैं और उनकी सार्थकता को कृति में यथावसर स्पष्ट भी किया गया है। यदि यह कृति आज के युवाओं तक पहुँची तो इसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होगा। जिन युवाओं को धर्म मात्र ढोंग नजर आता है, उनके लिए धर्म की ओर प्रेरित करने में यह कृति सशक्त निमित्त बन सकती है।

इसकारण युवाओं के लक्ष्य से लिखी गई इस कृति को हर युवक-युवती तक पहुँचाया जाना चाहिए और उन्हें इस कृति को पढ़ने के लिए प्रेरित भी किया

जाना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन ने इसे प्रकाशित कर दातारों के सहयोग से अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुँचाने का निश्चय किया है।

डॉ. शुद्धात्मप्रभा बचपन से ही प्रतिभाशाली रही हैं। उन्होंने 'होनहार विरवान के होत चिकने पात' कहावत को भी चरितार्थ किया है। विद्वत्ता की दृष्टि से वे पिताश्री (डॉ. हुकमचंदजी भारिल्ल) के पदचिन्हों पर उसी भांति चल रही हैं, जिसप्रकार श्रीमती इन्दिरा गांधी अपने पिता पंडित जवाहरलाल नेहरू के पदचिन्हों पर चली थीं और एक दिन भारतवर्ष के चमकते सितारे के रूप में प्रधानमंत्री पद सुशोभित कर देश को गौरवान्वित किया था।

डॉ. शुद्धात्मप्रभा के "आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" तथा "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार" शोध-प्रबन्ध तो पूर्व में प्रकाशित हो ही चुके हैं, कथासाहित्य की दृष्टि से लिखी गई "राम-कहानी" ने अपार ख्याति अर्जित की है। यह अबतक २३ हजार की संख्या में जन-जन तक पहुँच चुकी है।

प्रस्तुत कृति के कतिपय पत्र जैनपथप्रदर्शक, समन्वयवाणी तथा स्वदया (गुज.) में प्रकाशित हो चुके हैं, जिन्हें पाठकों ने काफी सराहा है। आशा है धर्म के मर्म को खोलने वाली यह कृति युवाओं को तो सन्मार्ग दिखायेगी ही; आपकी दृष्टि आत्मा की ओर केन्द्रित कर सच्चे सुख का मार्ग भी प्रशस्त करेगी।

इस सरल, सुबोध कृति के लिए वे बधाई की पात्र हैं। जिन महानुभावों ने पुस्तक की कीमत कम करने हेतु सहयोग दिया है, उनके भी हम आभारी हैं।

ब्र. जतीशचंद शास्त्री
राष्ट्रीय अध्यक्ष - अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

अपनी बात

प्रस्तुत कृति खतों का एक सिलसिला है। इसमें विचार एवं विकार के माध्यम से अपने जीवनरूपी पतंग की भोगोन्मुखी डोर को अपने आत्मा की ओर लाने का प्रयास किया गया है।

आज के इस वैज्ञानिक दौर में युवा पीढ़ी अपने को आधुनिक कहलाने के जौम में बिना सोचे-विचारे धार्मिक बातों व धार्मिक आचरण का मजाक उड़ाती, गली-गली नजर आ जाएगी। अपने बुजुर्गों को रूढ़िवादी व पोंगापंथी कहने में न तो उन्हें कोई संकोच है न हिचक ही। धार्मिक आचरण उन्हें व्यर्थ का आडम्बर नजर आता है। बुजुर्गों की बात मानना तो दूर की बात है, वे उन्हें सुनना भी पसन्द नहीं करते।

ऐसी स्थिति में अंग्रेजी माध्यम से पढ़े-लिखे ये युवा धार्मिक पुस्तकें पढ़ें भी तो कैसे? बस वे तो दो-चार सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही धर्म का विरोध करने लगते हैं। ऐसे युवाओं को ध्यान में रखकर इस कृति में उन्हीं के मनोभावों को अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी भाषा में, आज की चालू भाषा में, विकार के माध्यम से व्यक्त किया गया है तथा विचार के माध्यम से उनका समाधान किया गया है।

प्रस्तुत कृति में युवा वर्ग की अनेकों समस्याओं को उठाया गया है। धर्म से विमुख आधुनिक युवा पीढ़ी को धार्मिक ज्ञान देना ही इसका उद्देश्य है। इसमें जैनधर्म के अनुसार पाप, कषाय, गति, द्रव्य आदि सरल विषयों का ज्ञान कराने के साथ-साथ सुखी होने के उपाय के रूप में आत्मानुभूति जैसे गंभीर विषय को भी स्पर्श किया गया है।

जब मैं विचार व विकार की उम्र की थी, तब मैं अपने पूज्य पिताश्री डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल के साथ शिविरों में जाती तो देखती थी कि अनेकों माता-पिता अपने युवा होते बच्चों की कई तरह की परेशानियों को लेकर उनके पास आते। अधिकांश परेशानियाँ धार्मिक आचरण से संबंधित ही होती थीं; इसी कारण उनका अपने बच्चों के साथ मनमुटाव रहता। उम्र के उस दौर में मैंने भी अपने साथियों के कुछ ऐसे ही विचार सुने थे। अत: मैंने अपने पिताजी डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल एवं बड़े पिताश्री (ताऊजी) रतनचन्दजी भारिल्ल से

कई बार अनुरोध भी किया कि धर्म से सम्बन्धित विषय को लेकर माँ-बाप व बच्चों के बीच में बढ़ती दूरी कैसे समाप्त की जाए? आखिर ये दूरी बढ़ती क्यों है? आदि प्रश्नों पर एक पुस्तक लिखें; किन्तु धर्म के गहन मर्म को खोलने वाली लेखनी को इन सब बातों के लिए फुर्सत कहाँ, समय कहाँ? अत: बात आई-गई हो गई। फिर भी मन के कोने में यह कमी मुझे खटकती ही रही।

रामकहानी लिखने के बाद मेरे श्वसुर पूज्य श्री अभिनन्दनकुमारजी टडैया ललितपुर का आग्रह रहा कि मैं सरल-सुबोध भाषा में जैनधर्म के पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान कराती हुई कोई पुस्तक लिखूँ। इसकारण इस तरह की पुस्तक लिखने का मेरा विचार चल ही रहा था कि तभी श्रीमती मनोरमा जैन कापड़िया, बम्बई ने भी आकर कहा कि आप धर्म से एकदम अनभिज्ञ व्यक्तियों को ध्यान में रखकर हमारी पत्रिका स्वदया के लिए सरल-सुबोध भाषा में संक्षिप्त में कुछ-न-कुछ लिखकर दो। उनकी सक्रिय प्रेरणा से यह उपक्रम आरंभ हो गया।

अपनी बात संक्षेप में प्रस्तुत करने का पत्रों से अच्छा प्रभावी माध्यम अन्य कोई नहीं लगा। अत: पत्रशैली में यह पत्रों का सिलसिला पत्रिका में प्रतिमाह गुजराती अनुवाद होकर छपने लगा। इसप्रकार स्वयं की भावना, श्वसुरजी की प्रेरणा व मनोरमा बेन का निमित्त पाकर प्रस्तुत कृति आपके समक्ष पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत है।

यद्यपि पत्रों के सिलसिले का कोई अन्त नहीं, फिर भी आत्मा की ओर दृष्टि कराकर मैंने इन पत्रों को विराम दिया है।

मेरी भावना थी कि यह कृति अपने श्वसुर पूज्य दद्दीजी (श्री अभिनन्दनकुमारजी टडैया एडवोकेट) के करकमलों में साक्षात समर्पित कर उनका मंगल-आशीर्वाद प्राप्त करूँ; किन्तु दुर्दैव को यह स्वीकृत न था। इस कृति के सुव्यवस्थित आकार ग्रहण करने के पूर्व ही वे दिवंगत हो गये। अत: मैं इस कृति को उन्हीं की पावन स्मृति में उन्हें परोक्षरूप से समर्पित करती हूँ।

(डॉ.) शुद्धात्मप्रभा

दि. १५ नवम्बर, १९९५

विचार के पत्र विकार के नाम

बम्बई, दि. १ जून, १९९० ई.

डियर विचार,

पापा का बम्बई ट्रांसफर हो गया था, अतः जल्दी में मैं तुमसे मिले बिना ही यहाँ आ गया था। जब मैं तुम्हारे साथ था, तब तुम्हारे साथ का महत्त्व समझ में नहीं आता था, पर अब वियोग बरदाश्त नहीं होता। मानव का स्वभाव ही यह है कि उससे जो वस्तु दूर हो जाती है, उसे ही वह अधिक चाहने लगता है। दूर होने पर ही मित्र का महत्त्व महसूस होता है। फिर तुम जैसे सुलझे विचारों वाले, सही सलाह देने वाले मित्र का वियोग तो असह्य होता है; क्योंकि विचारशील व्यक्ति की संगति ही आधे दुःखों को दूर कर देती है।

यहाँ आकर मैं एक मुसीबत में फंस गया हूँ। बहुत सोचने के बाद भी जब कोई हल नहीं निकला तो तुम्हें पत्र लिखने बैठ गया; क्योंकि मुझे पता है कि तुम्हीं इस मुसीबत से छुटकारा दिला सकते हो। हुआ यों कि किटी की शौकीन मेरी मम्मी ने यहाँ आकर जैनकिटी ज्वाइन कर ली है। किटी से मम्मी अनेक प्रकार की बेबुनियाद बातें सीखकर आती हैं और उनका घर में प्रयोग करती हैं। मसलन, अब कल की ही बात लो कि मम्मी ने किटी से घर आकर आदेश दिया–

"आज से घर में सभी पानी छानकर ही पियेंगे।"

तभी नीति एक कदम आगे बढ़कर बोली – "मम्मी! सिर्फ पीने का पानी ही नहीं, अपितु उपयोग में आने वाला सभी पानी छानकर ही काम में लेना चाहिए।"

अब तुम्हीं बताओ – क्या यह संभव है? घर में यह सब ढोंग (आडम्बर) कर भी लें, पर घर के बाहर क्या करें? फिर क्या यह सम्भव है कि घर से सूट पहन कर निकलो, होटल जाओ और पानी छान कर पिओ? ये घिसे-पिटे दकियानूसी तरीके मुझे पसंद नहीं, पर मम्मी के आगे अपनी चलने वाली नहीं। अतः तुम्हीं कोई उपाय सुझाओ।

पत्र की प्रतीक्षा में,

तुम्हारा मित्र
विकार गोयल

भोपाल, दि. १० जुलाई, १९९० ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। छोटी-सी बात पर उत्तेजित होना अच्छा नहीं है। देखो दोस्त! पानी छानकर पीना तो अच्छी बात है। आज कल तो डॉक्टर भी उत्तम स्वास्थ्य के लिए फिल्टर किया हुआ, उबला हुआ पानी पीने की ही सलाह देते हैं। 'जीरो बी' और 'एक्वागार्ड' जैसे कीमती अथवा आधुनिक साधन भी पानी छानकर पीने के महत्व को ही दर्शाते हैं। अत: पानी छानकर ही पीना चाहिए।

घर से बाहर जाने पर हम अपने साथ एक साफ सुथरा मोटा सूती कपड़ा रखें व पानी पीते समय उसे दुहरा करके पानी छानें, तभी पियें।

ध्यान रहे, इकहरे कपड़े में छानने से पानी पूर्ण शुद्ध नहीं हो पाता है; अत: दुहरे मोटे कपड़े से ही छानें।

यह तो हमारे स्वास्थ्य की दृष्टि से बात हुई, पर जैनदर्शन में तो प्राणीमात्र की रक्षा पर बल दिया जाता है। अत: उपयोग में आने वाले सभी पानी को छानने की बात कही है; क्योंकि बिना छने पानी के उपयोग में लाने पर पानी में रहने वाले जीवों का घात होता है। जीवों का घात होना भी हिंसा है। अत: हम अनजाने में ही हिंसा जैसा महापाप कर लेते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने पानी छानकर ही उपयोग में लाने की बात कही है।

बम्बई में जैन खाना मिलता है, यह तो सुना था; पर ये 'जैन-किटी' क्या होती है? लिखना। प्रीति मजे में है। सबको याद करती है।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. ११ अगस्त, १९९० ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे लिखे अनुसार हमने दोहरे मोटे कपड़े से पानी छानकर पीना प्रारम्भ कर दिया है।

तुमने जैन-किटी के बारे में पूछा। तुम किटी पार्टियों के बारे में तो जानते ही होगे। आजकल हर बड़े शहर में इनका प्रचलन हो गया है। उसी की नकल पर जैन महिलाओं ने जैन-किटी प्रारम्भ की है। जैन-किटी में और किटी की तरह हाउजी आदि गेम नहीं खेले जाते; क्योंकि हार-जीत पर दृष्टि रखकर रुपये-पैसे से खेले जाने वाला हाउजी जुए का ही दूसरा रूप है। उसके स्थान पर जैन-किटी में जैनधर्म से संबंधित प्रश्नोत्तरी दी जाती है। जो सबसे अधिक सही जवाब देता है, उसे इनाम दिया जाता है। पहले आधा घण्टा जैनधर्म से संबंधित विषयों पर चर्चा वार्ता होती है, फिर उन्हीं पर प्रश्न दिए जाते हैं। अतः जिन्हें जैनदर्शन का ज्ञान नहीं है, वे भी इसमें सोत्साह हिस्सा ले लेते हैं। पुरस्कार के प्रलोभन में उन्हें ज्ञान भी मिल जाता है।

अतः यह जैन-किटी एक प्रकार से जैनदर्शन के सिद्धान्तों व आचरणों का प्रचार-प्रसार ही कर रही है।

तुमने लिखा 'जीवों का घात होना भी हिंसा है।' यहाँ 'भी' से तुम क्या कहना चाहते हो? क्या जीवों को मारने के अलावा भी हिंसा होती है? या तुम भूल से 'ही' के स्थान पर 'भी' लिख गए? बाल की खाल निकालने वाली बहिन 'नीति' कह रही थी कि 'भी' लिखने में तुम्हारा कुछ खास मतलब है। स्पष्ट करना।

घर में सभी को यथा योग्याभिवादन।

तुम्हारा मित्र
विकार गोयल

भोपाल, दि. १ सितम्बर, 1990 ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी बहिन नीति का कहना ठीक ही है; क्योंकि जीवों का घात होना तो हिंसा है ही, किन्तु यह तो द्रव्यहिंसा है। भावहिंसा भी तो हिंसा होती है। यही बताने के लिए 'भी' शब्द का प्रयोग किया गया था।

जैनदर्शन के अनुसार हिंसा दो प्रकार की होती है –

(१) द्रव्यहिंसा और (२) भावहिंसा

किसी जीव को जान से मारना, उसका दिल दुखाना, उसे सताना द्रव्यहिंसा है और आत्मा में मोह-राग-द्वेष भावों का उत्पन्न होना भावहिंसा है।

झूठ, चोरी आदि सभी पापों में रागादि भावों का सद्भाव होता है; अत: वे सभी हिंसा में सम्मिलित हो जाते हैं।

रात्रिभोजन में भी जीवों का घात होने से हिंसा का दोष आता है; अत: रात्रिभोजन का भी हमारे धर्म में निषेध है।

अब तुम्हारा मन बम्बई में लग गया होगा। नये दोस्त भी बन गए होंगे। सब समाचार देना। पत्र की प्रतीक्षा में।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १० अक्टूबर, १९९० ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मिला। अब तुम मेरी नई मुसीबत के बारे में सुनो। पिछले माह पर्यूषण पर्व हर वर्ष की तरह आया, पर इस वर्ष वह मेरे लिए आफतों का पहाड़ लाया। न जाने मम्मी को क्या हो गया है? इन दिनों आलू, प्याज तो हर वर्ष ही घर में नहीं बनते थे, हम उसके अभ्यस्त भी हो गए थे; पर इस वर्ष तो उन्होंने गजब ही कर दिया, घर में दस दिन तक हरी सब्जी ही नहीं आई। वे स्वयं भी दिन भर मंदिर में रहतीं। कभी एक समय खाना खाती तो कभी खाती ही नहीं। हम खाना खाने को कहते, तो कहतीं कि व्रत है, तुम भी करो। मुझे तो यह सब ढकोसला पसंद नहीं। पता नहीं, खाना नहीं खाने में कौन-सा धर्म होता है? ऐसे तो एकबार पाँच दिन बुखार में मैंने भी कुछ नहीं खाया था, तो क्या वह भी धर्म हो गया? पर्यूषण पर्व में ही यह सब क्यों? यह पर्यूषण पर्व हम मनाते ही क्यों हैं? यह कैसा पर्व है जिसमें मौज-मस्ती नहीं, खाना-पीना नहीं ?

अष्टमी, चतुर्दशी को मम्मी मुझे जबरदस्ती प्रवचन में ले गईं। पण्डितजी की बड़ी-बड़ी बातें मुझे समझ में नहीं आईं। हिंसा-अहिंसा के प्रकरण में भी उन्होंने कहा कि हिंसा दो प्रकार की होती हैं – अविरमणरूप और परिणमनरूप। पर तुमने तो हिंसा के द्रव्यहिंसा और भावहिंसा ये दो भेद बताये थे। ये विरोधाभास क्यों? यह क्या चक्कर है, इनमें कौन से भेद सही हैं?

तुमने रात्रिभोजन में हिंसा का दोष लिखा है, यह बात भी कुछ समझ में नहीं आई। यदि रात्रिभोजन में जीवों का घात होता है, तो क्या वह दिन के भोजन में नहीं होता? भोजन करना व बनाने की प्रक्रिया दिन व रात में समान होने पर भी रात्रिभोजन में ही दोष क्यों? दिवाभोजन में क्यों नहीं?

सब कुछ विस्तार से लिखना। घर में सभी को यथायोग्य अभिवादन।

पत्र की प्रतीक्षा में।

तुम्हारा मित्र
विकार गोयल

भोपाल, दि. १ नवम्बर, १९९० ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। लगता है काफी उत्तेजना में लिखा है। तुम्हें बहुत जल्दी गुस्सा आ जाता है। गुस्सा तन व मन दोनों के लिए ही हानिकारक है। क्रोध आत्मा का विकारी भाव है, जिसके वशीभूत होकर प्राणी विवेक रहित हो जाते हैं और अपना ही अहित कर लेते हैं। अनादिकाल से समस्त प्राणी आत्मा में उत्पन्न इन विकारी भावों के कारण ही दु:खी और अशांत हैं। अशांति और दु:ख को दूर करने का एकमात्र उपाय आत्मस्वभाव को जानकर, मानकर उसी में लीन हो जाना है। जिस आत्मा में आत्मरुचि, आत्मज्ञान और आत्मलीनता रूप धर्मपर्याय प्रगट होती है, उसमें धर्म के दशलक्षण सहज प्रगट हो जाते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि आत्मस्वरूप की प्रतीतिपूर्वक धर्म की दश प्रकार से आराधना करना ही दशलक्षण धर्म है।

आत्मा में दशप्रकार के गुणों के विवेचन से संबंधित होने से ही पर्यूषण पर्व को दशलक्षण महापर्व कहा जाता है। इस पर्व का संबंध विशेषरूप से आत्मगुणों की आराधना से हैं; अत: यह वीतरागी पर्व संयम और साधना का पर्व है, मौज-मस्ती का नहीं। इसीलिए मम्मी ने घर में हरी सब्जी आदि न बनाकर तुम्हें संयमित रहने की राह दिखाई और स्वयं भी संयमित रहने के लिए प्रोषधोपवास किया। जब मम्मी ने प्रोषधोपवास किया होगा, तब अवश्य ही उन्होंने अपना अधिकांश समय आत्माराधना में लगाया होगा। 'आत्माराधना के लिए किया गया विषय, कषाय और भोजन का त्याग उपवास है, शेष सभी लंघन है।' अत: बुखार में पाँच दिन भोजन नहीं करना, उपवास नहीं; लंघन है।

भावहिंसा व रात्रिभोजन का विषय एक-दूसरे से संबंधित है। उसे जरा-विस्तार से समझना पड़ेगा; अत: इस बारे में कल दूसरा पत्र लिखूँगा। अभी यहीं विराम लेता हूँ।

तुम्हारा मित्र,

विचार जैन

भोपाल, दि. २ नवम्बर, १९९० ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

एक पत्र कल दिया था, मिल गया होगा। इस पत्र को ध्यान से दो-तीन बार पढ़ना, फिर भी यदि कुछ समझ में न आए तो लिखना।

ध्यान रहे हिंसा मात्र दूसरों की ही नहीं होती; अपनी भी होती है।

आत्मा में राग-द्वेषादि विकारी भावों की उत्पत्ति स्व-भावप्राण हिंसा है; क्योंकि इससे स्व (अपनी) आत्मा के शुद्धोपयोगरूप भावप्राणों का घात होता है तथा प्रमाद के कारण अपने अवयवों को कष्ट देना, आत्महत्या आदि करना स्व-द्रव्यप्राण हिंसा है। अन्य प्राणियों के अंतरंग को व्यंग्य, परिहास, कुवचनादि द्वारा पीड़ित करना पर-भावप्राण हिंसा है और प्रमाद के वशीभूत होकर अन्य के प्राणों का घात करना, अंग पीड़ा आदि देना पर-द्रव्यप्राण हिंसा है।

परजीव के घातरूप हिंसा भी दो प्रकार की होती है –

(१) अविरमणरूप और (२) परिणमनरूप

जब जीव परजीव के घात में प्रवर्तन करें, तब उसे परिणमनरूप हिंसा कहते हैं; किन्तु जब हिंसारूप परिणमन तो न हो, पर उस प्रकार की हिंसा का त्याग भी न हो तो उसे अविरमणरूप हिंसा कहते हैं। भले ही अभी हिंसा का प्रसंग न बन रहा हो, पर उसका त्याग न होने से प्रसंग आने पर वह वैसी हिंसा कर सकता है। अत: वह अभी भी हिंसक है।

जैसे कोई भी व्यक्ति चौबीसों घंटे आलू तो नहीं खाता रहता, पर आलू खाने का त्याग नहीं होने से उसे तत्संबंधी अविरति सदा विद्यमान है।

रात्रिभोजन में राग की तीव्रता होने से भावहिंसा होती है। रात्रि में भोजन करने व बनाने से रात्रि में ही विचरण करने वाले सूक्ष्म जीवों की हिंसा होने से द्रव्यहिंसा भी होती है।

इस बारे में यदि तुम्हें विस्तार से जानने की जिज्ञासा हो तो पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ की १२९ से १३४ तक की गाथायें पढ़ लेना। पत्र में सब-कुछ लिखना संभव नहीं है। वैसे भी मैंने इस पत्र में पूरा प्रवचन ही लिख दिया है। अत: तुम काफी बोर हो गए होगे।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १ जनवरी, १९९१ ई.

डियर विचार,

तुम्हारे दोनों पत्र यथासमय मिले। पर मैं तुम्हें पत्र लिखने में लेट हो गया। मुझे यहाँ बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है। भोपाल की लाइफ और यहाँ की लाइफ स्टाइल में बहुत अन्तर है। यहाँ पर तो शाम हुई और सब अपने अपने दड़बे में घुस जाते हैं और टीवी से चिपक जाते हैं। मम्मी और नीति तो जैन-किटी के लिए गेम बनाने में व्यस्त हो गई हैं। पापा घर देर से आते हैं और बेहद थके रहते हैं; अतः कोई साथी न होने से मैं घर की कैद में पिंजरे में बंद पक्षी की तरह छटपटाता रहता हूँ। मुझे वे दिन बहुत याद आते हैं, जब हम सब दोस्त मिलकर शाम को सैर करने निकल पड़ते थे और रात के बारह कब बज जाते थे, पता ही नहीं चलता था। यहाँ तो मुझे कुछ समझ में ही नहीं आता है कि क्या करूँ? तुम्हारे पत्र मिलते हैं तो बहुत अच्छा लगता है, उनसे बोर होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, मेरी बोरियत अवश्य कुछ कम हो जाती है और ज्ञान भी बढ़ता है।

तुम्हारे पिछले पत्र में हिंसा के बारे में पढ़कर तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। ऐसी बातें तो मैंने कभी सुनी ही नहीं थीं। द्वेष को तो सभी हिंसा कहते हैं, पर प्रेम (राग) भाव भी हिंसा हो सकता है, ऐसा तो स्वप्न में भी नहीं सोचा था। हिंसा के बारे में सूक्ष्मरूप से विस्तृत जानकारी चाहता हूँ। अविरमणरूप हिंसा के बारे में जरा विस्तार से बताओ, उसका स्वरूप कुछ स्पष्ट नहीं हुआ।

उपवास के बारे में मैं जानता हूँ। जब उपवास करते हैं, तब बहुत मजे रहते हैं, सभी हमारा बहुत ध्यान रखते हैं। कुछ काम भी नहीं करना पड़ता और खूब प्रशंसा सुनने को मिलती है। यदि पाँच दिन के उपवास कर लो तब तो पूछना ही क्या? फिर तो हाथी पर बिठाकर जुलूस भी निकलता है, सम्मान भी होता है। पर ये प्रोषधोपवास कौन-सी बला है? लिखना।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में 'रात्रिभोजन क्यों नहीं करना चाहिए' के बारे में जबसे पढ़ा है, तबसे मैंने रात्रिभोजन नहीं किया है।

राग की गृद्धता होने से रात्रिभोजन में भावहिंसा तो है ही और द्रव्यहिंसा का उदाहरण तो मैंने कल ही पेपर में पढ़ा था कि सब्जी की कड़ाही में छिपकली गिरने से हुए विषाक्त भोजन करने से सौ बराती अस्पताल पहुँचे। सब्जी में जब इतनी बड़ी छिपकली नजर नहीं आई, तो छोटे-मोटे कीड़ों का तो कहना ही क्या है। कभी-कभी बातें करने में ही कीड़े मुँह में चले जाते हैं। ये सब सोचता हूँ तो रात्रि में खाना खा ही नहीं पाता, पर अभी कोई प्रतिज्ञा नहीं ली है।

अरे! मैं तो तुम्हें ही उपदेश देने लगा। बहुत समय हो गया है। अब अगले पत्र में लिखूँगा। पत्रोत्तर देना।

तुम्हारा मित्र
विकार गोयल

भोपाल, दि. १० अप्रैल, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। जैनदर्शन के बारे में तुम्हारी जागती जिज्ञासा देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय पढ़कर इतने सरल प्रश्न उठने का कारण ही यही है कि तुमने उसे फटाफट पढ़ डाला। यदि तुम उसपर एकाग्रता से विचार करते तो सभी कुछ समझ में आ जाता।

खैर छोड़ो। अब मैं पापों के स्वरूप को क्रम से समझाऊँगा और तुम एकाग्रता से समझना। पाप के बारे में मैंने तुम्हें पहले भी लिखा था कि दु:ख के कारण बुरे कार्य को पाप कहते हैं। मिथ्यात्व और कषायें दु:ख के कारण हैं; अत: पाप है। मोटे तौर पर पाप पाँच प्रकार के होते हैं - हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनमें से हिंसा के बारे में पूर्व पत्रों में विस्तार से चर्चा हो चुकी है। अत: अब असत्य से ही चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

तुमने लिखा है कि जैसा देखा, जाना, सुना हो; वैसा ही कह देना सत्य है। नहीं भाई, नहीं; यह सत्य नहीं है। सत्य बोलने के पहले सत्य समझना आवश्यक है, यदि हम सत्य समझेंगे ही नहीं तो सत्य बोलेंगे कैसे? जैसे कि हमने किसी से सुना कि अग्नि ठंडी होती है और उसकी सत्यता की परख किये बिना ही हमने भी कह दिया कि अग्नि ठंडी होती है; तो क्या हमारा यह कथन सत्य हो जायेगा। नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि सत्य बोलने के पहले सत्य समझना जरूरी है।

इसके बारे में पुरुषार्थसिद्धयुपाय की गाथा ९२ से ९८ को धीरे-धीरे समझपूर्वक पढ़ना, फिर जो समझ में न आये तो पूछना, यहाँ विस्तार से लिखना संभव नहीं। जैसा कि तुमने लिखा 'स्व-पर को हानिकारक वचन असत्य है' यह परिभाषा पूर्ण नहीं है; क्योंकि असत्य वचन में प्रमाद का योग मुख्य है। इसीलिए पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है कि - "प्रमाद के योग से स्व-पर को हानिकारक सभी वचन असत्य हैं।"

तुम्हारे पेपर ठीक हो गए होंगे। घर में सभी को यथायोग्याभिवादन।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १२ मई, १९९१ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। मेरे सभी पेपर सन्तोषजनक गए हैं। मैंने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में असत्य के भेदों के बारे में पढ़ा और चोरी, कुशील और परिग्रह के बारे में तो मैं जानता ही हूँ। मैंने एक बच्चों की किताब में पढ़ा था कि किसी की पड़ी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को बिना उसकी आज्ञा लिए उठा लेना या उठाकर किसी दूसरे को दे देना द्रव्यचोरी है और परवस्तु के ग्रहण करने का भाव भावचोरी है। पराई माँ-बहिन को बुरी निगाह से देखना कुशील है तथा अनाप-शनाप रुपया-पैसा जोड़ना, द्रव्य परिग्रह है और द्रव्यपरिग्रह को जोड़ने का भाव तथा उनके प्रति राग रखना, उन्हें अपना मानना भावपरिग्रह है; पर प्रमाद किसे कहते हैं? – यह समझ में नहीं आया।

पिछले माह महावीर जयन्ती पर मैंने सभी प्रोग्राम अटेन्ड किए।

प्रवचन में भगवान महावीर की चर्चा करते हुए पण्डितजी कह रहे थे कि आज भगवान महावीर का जन्मदिन है। वैसे तो जन्म लेना कोई अच्छी बात नहीं है, पर जिस जन्म में जन्म-मरण का नाश कर भगवान बना जा सके, वही जन्म सार्थक है। भगवान महावीर का यह अन्तिम जन्म था। इसके बाद उन्होंने जन्म-मरण का नाश कर दिया था; इसीलिए हम उनका जन्मोत्सव धूमधाम से मनाते हैं। भगवान जन्मते नहीं, आत्मसाधना का अपूर्व पुरुषार्थ कर बनते हैं। भगवान जगत के तटस्थ ज्ञाता-दृष्टा होते हैं, कर्ता-धर्ता नहीं। जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतरागी रह सके, अथवा पूर्णरूप से अप्रभावित रहकर जान सकें, वही भगवान है। तीर्थंकर भगवान वस्तुस्वरूप को जानते हैं, बताते हैं; बनाते नहीं। भगवान महावीर भरतक्षेत्र में इस युग के चौबीसवें एवं अन्तिम तीर्थंकर थे।' आदि बहुत-सी ज्ञानवर्द्धक बातें बताईं, पर मेरा मन दो प्रश्नों पर ही अटक गया।

प्रथम तो भगवान और तीर्थंकर में क्या अन्तर है और दूसरे हम भगवान महावीर का जन्म दिन क्यों मनाते हैं, ऋषभदेव आदि का क्यों नहीं? वे भी तो भगवान थे, तीर्थंकर थे; जैनधर्म की स्थापना भी उन्होंने ही की थी।

दोस्त नाराज न होना। हम तो ठहरे जैनदर्शन में जीरो, अतः छोटी-छोटी बातें भी तुम्हें ही समझानी पड़ेंगी। विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा ही मित्र
विकार गोयल

भोपाल, दि. १५ जून, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला, तुम्हारी जिज्ञासा जानकर प्रसन्नता हुई। अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी वीतरागी और सर्वज्ञ होते हैं। जो वीतरागी और सर्वज्ञ हो, उसे भगवान कहते हैं। सभी भगवान तीर्थंकर नहीं होते, पर सभी तीर्थंकर भगवान अवश्य होते हैं। तीर्थंकर धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं। समवशरण आदि विभूति से युक्त होते हैं और उनके तीर्थंकर नामकर्म नाम के महापुण्य का उदय होता है।

अपने जैनधर्म में भगवान धर्म की स्थापना नहीं करते; अत: भगवान महावीर ने तो जैनधर्म की स्थापना की ही नहीं थी, पर भगवान ऋषभदेव ने भी जैनधर्म की स्थापना नहीं की थी। भगवान धर्म की स्थापना नहीं, उद्घाटन करते हैं और ऋषभादि महावीर पर्यंत सभी तीर्थंकरों ने यही किया था। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पहले भी अनन्त तीर्थंकर भगवान हो गए और विदेहादि अन्य क्षेत्रों में होते रहते हैं।

हम सभी तीर्थंकरों का जन्मदिन तो मना नहीं सकते; इसीलिये जिस समय जिन तीर्थंकर का शासन चलता है, उस समय उन्हीं तीर्थंकर की जन्मजयन्ती मनाते हैं। भरत क्षेत्र के इस युग के अन्तिम तीर्थंकर होने से अभी तीर्थंकर भगवान महावीर का शासन चल रहा है। इसलिये हम उनका जन्मदिन मनाते हैं।

विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

भोपाल, दि. २५ जुलाई, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र बहुत दिनों से नहीं मिला, क्या बात है? तुम्हारे जिज्ञासोत्पादक प्रश्नों को पढ़कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता होती है। यदि तुम छोटे-छोटे प्रश्न पूछने में संकोच कर जाओगे तो तुम्हें बड़ी-बड़ी बातें कैसे समझ आयेंगी? मूल शब्दावली समझ नहीं आयेगी तो बड़े-बड़े ग्रन्थ कैसे पढ़ सकोगे, कैसे समझ सकोगे? प्रश्न पूछने में संकोच करना अर्थात् अपने आपको अज्ञानी बनाए रखना है। पाश्चात्य दार्शनिक कन्फ्युशियस ने कहा भी है कि – 'जो व्यक्ति प्रश्न करता है, वह स्वयं को पाँच मिनिट के लिए मूर्ख सिद्ध करता है, पर जो व्यक्ति प्रश्न नहीं करता, वह जीवन भर मूर्ख रहता है। तुम नि:संकोच होकर मुझसे सबकुछ पूछ सकते हो। मैं यथासंभव उन्हें हल करने का प्रयास करूँगा।

कषाय सहित अवस्था को प्रमाद कहते हैं। प्रमादपूर्वक अप्रिय वचन बोलना ही असत्य है। इसीप्रकार प्रमाद के योग से, बिना दिए हुए स्वर्ण-वस्त्रादि का ग्रहण करना चोरी है और वेद के रागरूप योग से स्त्री-पुरुष का सहवास अब्रह्म (कुशील) है तथा मोह के उदय से ममत्वरूप परिणाम ही परिग्रह है। इन पाँचों पापों में आत्मा के स्वभावभाव का घात करने वाले विभावभावों की उपस्थिति समान होने से प्रमाद का योग रहता है; अत: सभी पापों का समावेश हिंसा में ही हो जाता है। असत्यादि भेद तो शिष्य को समझाने के लिए उदाहरण स्वरूप कहे गए हैं।

असत्यादि सभी पाप हिंसा में समाहित कैसे होते हैं – इसके बारे में विस्तार से जानना हो तो पुरुषार्थसिद्धयुपाय में ही पापों के प्रकरण को पढ़ लेना। उसमें प्रत्येक पाप में स्वद्रव्यप्राणहिंसा, स्वभावप्राणहिंसा, परद्रव्यप्राणहिंसा व परभावप्राणहिंसा को अच्छी तरह स्पष्ट किया है।

तुम्हारी छुट्टियाँ मजे में गुजरी होंगी। छुट्टियों में क्या किया? लिखना।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. ११ अगस्त, १९९१

डियर विचार,

एक बात बताओ दुःखों में, दर्दों में जन्में इस मानव का अन्त आखिर दर्द सहते-सहते ही क्यों हो जाता है? जन्मते समय होने वाले दुःख की अनुभूति हर व्यक्ति को होती है, पर क्या वह उसे अभिव्यक्त कर पाता है? नहीं, क्योंकि उस समय उसमें अभिव्यक्ति की सामर्थ्य नहीं होती। अपनी अनुभूति को भाषा में अभिव्यक्त कर सके, वह इस काबिल ही नहीं होता। सिर्फ रुदन ही उसके दर्द की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन है, पर क्या सिर्फ रुदन ही उसकी दर्द की अनुभूति को दूसरों की अनुभूति बना सकता है?

इसीप्रकार मृत्यु के दर्द का अनुभव भी सभी को होता है, पर उस दर्द का अनुभव करने वाला उसे अभिव्यक्त कहाँ कर पाता है? जो अनुभव करता है, वह अभिव्यक्ति की सामर्थ्य खो बैठता है और जो किंचित् भी अभिव्यक्ति के योग्य होता है, वह परिपूर्ण अनुभूति को प्राप्त किए हुए नहीं होता है।

इसप्रकार मानव मात्र जन्मते समय या मरते समय ही नहीं, वरन् जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त दर्दों को झेलता हुआ दुःखानुभूति ही करता रहता है। आखिरकार दुःखानुभूति से संतप्त हो किन्हीं दर्दों में सुखानुभूति महसूस करने लगता है।

हर व्यक्ति को हर समय किसी न किसी प्रकार का दर्द बना ही रहता है। अभिव्यक्ति की सामर्थ्य होते हुए भी कुछ उन्हें अभिव्यक्त करते हैं, कुछ नहीं।

एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से तभी तक सम्पर्क बनाए रखता है, जबतक वह अनुभव करता है कि इस व्यक्ति का साहचर्य मेरे दर्द को कम करने में सहायक है। जब उसे यह अनुभव होने लगता है कि अब यह मेरे दर्द को दूर करने के बजाय अपना दर्द मुझपर लादना चाह रहा है, तभी वह उसका साथ छोड़ देता है अथवा कभी सोचता है कि अब इसमें मेरे दर्द को दूर करने की सामर्थ्य नहीं, तो इसके साथ से क्या फायदा? कितनी स्वार्थी है दुनिया ?

खैर छोड़ो इन बातों को। तुम बताओ – अपने नाम के आगे जैन क्यों लिखते हो? जैन तो जाति है न!

विशेष क्या? पत्रोत्तर की प्रतीक्षा में।

तुम्हारा मित्र
विकार गोयल

भोपाल, १ सितम्बर, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। बड़ी-बड़ी बातें लिखी हैं। भाई, तुम्हारे साथ ऐसी क्या घटना घट गई जो तुम दार्शनिक बन गए?

जहाँतक दु:खों का सवाल है तो संसार नाम ही दु:खों का है। इस संसार में जीव-जन्तु से लेकर मानव पर्यन्त दु:खों का ही बाहुल्य है। यह बात अलग है कि किन्हीं प्राणियों के दु:खों का ज्ञान हमें हो जाता है और किन्हीं का नहीं। पशु-पक्षी जगत में जो जीव हैं, उनमें कुछ तो अपनी मौन शारीरिक क्रियाओं द्वारा ही अपने दु:खों की अभिव्यक्ति कर देते हैं और कुछ अपनी सामर्थ्य के अनुसार अपनी भाषा में ही अपने भावों को प्रगट करते हैं। लेकिन ये वृक्ष, ये लताएँ, ये पुष्प, ये कलियाँ अपने दु:खों को कैसे प्रकट करें? उनके दु:खों से अनभिज्ञ हम अपनी क्षणिक अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए निर्द्वन्द हो उन्हें तोड़ते रहते हैं, काटते रहते हैं – ये तो रहे एकेन्द्रिय पेड़-पौधों के हाल।

द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़ों पर दृष्टिपात किया जाये तो लट्, चींटी, मक्खी, मच्छर आदि जो अपनी पीड़ा को प्रकट करने में असमर्थ हैं, उन्हें हम किस तरह जहरीली दवाओं द्वारा सहजरूप में ही मौत के घाट उतार देते हैं, इससे तो हम-तुम अनभिज्ञ नहीं है। क्या वे मरणांतक पीड़ा का अनुभव नहीं करते होंगे?

इसप्रकार हम देखते हैं कि मानव चित्त मूक प्राणियों की हत्या से तो विचलित नहीं होता, पर जो अपनी मूकता तज अपने आर्त्तनाद को प्रकट करने में समर्थ हैं, उन पर यह कुछ दया अवश्य करता है। उन्हें मारने के पहले कुछ सोचने पर मजबूर होता है। यह दया भी उनकी चीख-पुकार के आधार पर ही निश्चित होती है, दु:खों से उसका कोई लेना-देना नहीं। जैसे– चूहे, बिल्ली, कुत्ते आदि के प्रति संवेदनाओं में अन्तर हमें स्पष्ट प्रतिभासित होता है। यह मानव चींटी का भी बध करता है और हाथी का भी; पर आश्चर्य है कि हजारों चींटियों के मारने पर उसे अहसास तक नहीं होता कि उसने कोई हत्या की है; पर चीख-पुकार कर जंगल को गुंजा देने वाले एक हाथी की हत्या जनसामान्य को हिला देती है। इससे आगे की बात की जाए तो एक मानव की हल्की सी चोट भी हमें इतना दु:ख दे जाती है, जितना कि अनेकों पशु-पक्षियों की हत्या पर भी न हो। कारण कि मानवीय दु:खों से वह परिचित है न! वह दु:ख स्वयं के अनुभूत हैं न!

यह अन्तर हम मात्र पशु जगत में ही नहीं, अपितु मानव जगत में भी करते हैं। यही कारण है कि बालकों के दु:खों को हम दु:ख ही नहीं मानते। उनके लिए रोना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक मानते हैं। यदि रोना बालक के स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है तो बड़ों को क्यों नहीं?

खैर छोड़ो इन बातों को। इस पर तो जितना भी लिखो कम है। तुम्हारे दूसरे प्रश्नों के उत्तर अगले पत्र में दूँगा।

शेष कुशलता है। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

भोपाल, दि. १५ अक्टूबर, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

एक पत्र पिछले माह दिया था, मिला होगा। पर तुम्हारा कोई पत्र नहीं आया। तुमने अपने पूर्व पत्र में लिखा था कि जैन जाति है। देखो भाई! जैन जाति नहीं, धर्म है, दर्शन है। जिसने मोह-राग-द्वेष और इन्द्रियों को जीता वही जिन है और जो जिनदेव के बताए हुए मार्ग पर चलता है, वह सच्चा जैन है।

इस प्रसंग पर मैं तुम्हारा ध्यान एक तथ्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि हमारी जनसंख्या एक करोड़ से ऊपर होने पर भी जनगणना में कम क्यों आती है ? इसका एकमात्र कारण है कि हम जैनी भाई अपने नाम के आगे बंसल, गोयल, शाह आदि लिखते हैं; जैन नहीं। अत: जनगणना के समय धर्म के कॉलम में हमें हिन्दू लिख दिया जाता है और हम अधिक होने पर भी कम गिने जाते हैं। अत: जनगणना के समय हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि धर्म के कॉलम में जैन लिखायें, हिन्दू नहीं।

सन् १९७४ की जनगणना में जैनबन्धुओं ने इसप्रकार का अभियान चलाया था, तभी से हम अपने नाम के आगे जैन लिखने लगे।

रामनवमी हो या जन्माष्टमी, ईद हो या मुहर्रम – सभी पर्वों पर टीवी पर स्पेशल प्रोग्राम आयेगा, पर उन्हीं दिनों आने वाले हमारे पर्यूषण पर्व पर एक भी प्रोग्राम क्यों नहीं? एक भी छुट्टी क्यों नहीं? इस दिशा में हमने कभी सोचा ही नहीं। बस हम तो तेरापंथी, स्थानकवासी, श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि की उलझनों में उलझ कर रह गये हैं। अब जरूरत है इनसे ऊपर उठकर जैन बनने की, मात्र जैन।

तुम अपने समाचार देना। पत्र की प्रतीक्षा में।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १ नवम्बर, १९९१ ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम तो हर कदम नापन्तौल कर रखते हो। तुमने ठीक ही लिखा है कि पर्यूषण पर्व के प्रथम दिन तो अवकाश होना ही चाहिए। ऑफिस जाने की जल्दी में पिताजी न तो पूजा ही ढंग से कर पाते हैं और न ही प्रवचन सुन पाते हैं। बम्बई में तो मन्दिर भी दूर-दूर हैं; अतः बिना छुट्टी के तो दर्शन करने जाना भी मुश्किल होता है। नीति तो छुट्टी के दिन ही मन्दिर जा पाती है। हम इन दिनों ढंग से अपने प्रोग्राम अटेण्ड कर सकें; इसके लिए सार्वजनिक अवकाश अत्यावश्यक है। हमें एक होकर इस दिशा में प्रयास करना ही चाहिए।

मैंने भी अब अपने नाम के आगे जैन लिखना प्रारम्भ कर दिया है और अपने मित्रों को भी इसकी प्रेरणा दूँगा।

विचार! तुमसे क्या कहूँ और क्या छिपाऊँ? दिल सबकुछ उगल देने को करता है, पर शब्द हैं कि जबान पर आते ही नहीं। मैं बेहद उत्तेजना में हूँ। बेहद तनाव से मेरा रूप रौद्र होता जा रहा है, रौद्र ही नहीं; भयंकर, भयंकर और भयंकर। पता नहीं इसका परिणाम क्या होगा?

मेरा दोष क्या था? सिर्फ यही न कि अपनी हानि-लाभ की परवाह किए बिना, दूसरों का भला किया। यही न कि मैं स्वार्थी नहीं था, खुदगर्ज नहीं था। ठीक है अब तुम भी देखना मेरी मौत, भलाई से मौत, उपकार से मौत। हाँ, मृत व्यक्ति की यादें तो कम से कम उसकी उपस्थिति का अहसास दिलाती है, पर मैं उपस्थिति में अनुपस्थिति का अहसास दिलाऊँगा। मेरा अपयश करके यश चाहने वाला व्यक्ति यशरूपी संसार में जीवित नहीं रह सकता। जहाँ मैं किसी को आसमान पर चढ़ा सकता हूँ, वहीं मुझमें गिराने की सामर्थ्य भी है।

विचार, मुझे समझ नहीं आता कि मैं कैसा होता जा रहा हूँ? हाँ मैं बेहद जिद्दी, हठी और पाषाण बनता जा रहा हूँ। नहीं, नहीं; यह मैं बन नहीं रहा हूँ, बनाया जा रहा हूँ। अब यदि यही हालत रही तो वो दिन दूर नहीं कि लोग मुझसे टकराकर चोटें ही पायेंगे। भला मुझे अब और क्या चोट लग सकती है। मैं तो स्वयं चोटों का घर बन चुका हूँ। हर पल प्रतिक्षण सिर्फ चोट ही तो मिलती है मुझे, सिर्फ चोट।

खैर छोड़ो इन बातों को। पत्र देना तुम्हारे पत्रों से शान्ति मिलती है।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. 2 दिसम्बर, १९९१ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। दोस्त मेरे! चोट हर प्राणी को लगती है, घाव हर प्राणी को होते हैं, दु:ख भी प्रत्येक प्राणी को सहने पड़ते हैं। यह बात अलग है कि प्राणी उन्हें सहते किसप्रकार है? अथवा उन चोटों, घावों और दु:खों से वे दु:खी होते हैं या नहीं? ये चोटें, ये घाव, ये दु:ख प्राणी को उद्वेलित करते हैं या नहीं? इनसे मानव मन विचलित होता है या नहीं अथवा किस सीमा तक विचलित होता है? ये चोट, ये घाव, ये दु:ख मानव की उन्नति का साधन बनते हैं या अवनति के – यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह इन्हें लेता किस रूप में है? कुछ व्यक्ति चोट, घाव और दु:खों से सीख लेकर द्विगुणित ताकत से आगे बढ़ते हैं तो उन्नति उनके चरण चूमती है और कुछ व्यक्ति उनसे घबड़ा कर अस्थिर चित्त हो जाते हैं। अस्थिर चित्त वाले मानव असावधान हो जाते हैं; और असावधानी में वे स्वयं द्वारा ही स्वयं को गहरी चोट अनायास दे जाते हैं।

उतावली और उत्तेजना – ये दोनों मानव को बर्बाद करते हैं, पतन के रास्ते पर बढ़ाते हैं। अत: उत्तेजनाओं में की गयी प्रतिज्ञाओं को भूल जाना चाहिए तथा उतावली में कोई भी कार्य प्रारम्भ नहीं करना चाहिए।

तुम आजकल क्या कर रहे हो? तुम्हें आजकल इतना तनाव क्यों है? तुम साफ-साफ क्यों नहीं लिखते? तुम कुछ स्पष्ट लिखो तो मैं तुम्हारी समस्या को हल करने का प्रयास करूँ। मुझे लगता है कि अनायास घटी किसी घटना से तुम्हारा आवेश तीव्र हो उठा है, भावनाएँ मुखर हो गई हैं, सहनशक्ति क्षीण हो चुकी है, मन कल्पनाओं को साकार करने को बेताब हो उठा है; जिससे तुम अपने द्वारा ही निर्मित लक्ष्मण रेखाओं को भी तोड़ने लगे हो, इसीलिए तुम इतने विचलित हो गए हो। ऐसे समय में तुम कोई गलत कदम न उठाना। मेरी तो सलाह है कि तुम कुछ दिनों के लिए एकदम शान्त हो जाओ, मौन हो जाओ। धैयपूर्वक अपनी पूर्व परिस्थितियों पर विचार करो, पर किसी कार्य को क्रियान्वित न करना। यदि गुस्सा आए तो मुझे पत्र लिख देना। तुम्हारा गुबार निकल जाएगा तो तुम्हें कुछ शान्ति मिलेगी।

शेष कुशलता है। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. ५ जनवरी, १९९२ ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मिला। ओफ! इतने दिनों मैं कितने तनाव में रहा, तुम अन्दाज लगा सकते हो। ऐसा लगता था कि मैं बेजान सा पड़ा हूँ और शरीर नोंचने को गिद्ध चारों तरफ मंडरा रहे हैं। अभी भी परिस्थितियाँ सुलझी नहीं है। वातावरण शान्त-सा नजर आता है, पर ज्वालामुखी कभी भी फट सकता है।

तुमने पूँछा कि मैं क्या कर रहा हूँ आजकल? बस मैं तो कुछ न करके भी बहुत कुछ कर रहा हूँ और बहुत कुछ करके भी कुछ नहीं कर रहा हूँ। मैं व्यक्तियों से, शहरों से दूर भाग रहा हूँ, पर आखिर कबतक? अन्त में सामना तो उन्हीं का करना पड़ता है न। क्या करूँ, क्या न करूँ? तुम्हें कैसे लिखूँ व क्या-क्या लिखूँ? कुछ समझ नहीं आता।

विचार, कोई मेरा जरा सा भी अहित करता प्रतीत होता है तो मैं बदले की आग में धधकने लगता हूँ। जबतक उससे बदला नहीं ले लेता, तबतक चित्त शान्त नहीं होता, न खाना सुहाता है न पहिनना। उस समय कोई हितैषी यदि हित की बात करे तो भी मैं उस पर झल्ला पड़ता हूँ – यही वजह है कि मैं अपने काम में पिछड़ गया हूँ। पहिले जो मैं हमेशा प्रत्येक कार्य में अव्वल रहता था, अब नीचे से टॉप करने लगा हूँ। मानसिक तनाव तो बना ही रहता है। बहुत सोचता हूँ कि बदले की भावना को छोड़ूँ, पर क्या करूँ; अपमान का घूँट पीना मुझे अपनी कमजोरी लगती है।

कैसी है ये दुनियाँ? कैसे हैं ये लोग? सोच-सोचकर वितृष्णा पैदा होती है। क्या-क्या बताऊँ तुम्हें। दिल करता है तुम्हारे सामने अतीत के एक-एक पृष्ठ खोल दूँ। अतीत की घटनाओं के नाम पर मेरे पास है भी क्या, महज चन्द घटनाओं के; क्योंकि और बातें तो अब स्मृति पटल से काल द्वारा अपहृत कर ली गयी हैं। पर मुझे अतीत से कुछ मतलब भी नहीं, किन्तु वर्तमान प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है।

खैर छोड़ो! इस पर फिर कभी चर्चा करेंगे। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १० फरवरी, १९९२ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

देखो, विकार कब, क्या और कौनसी घटना हमारे साथ घट जायेगी, हम यह सोच भी नहीं सकते और जिस घटना की हमें आशा हो, वह इस तरह छूमन्तर हो जाए कि हम कल्पना ही नहीं कर सकते। अत: हमें प्रत्येक समय अघटनीय घटना का सामना करने तथा उसे सहज रूप से सहने को तैयार रहना चाहिए।

तुम्हें अपने जीवन की स्मृतियाँ कम हैं, यह तुम्हारे हित में हैं; क्योंकि स्मृतियाँ कैसी भी हो (सुखद या दु:खद) कभी भी सु:खद नहीं होती। यदि हमारी स्थिति अतीत में अच्छी थी और वर्तमान में खराब है तो हम पहिले की बातें याद कर-करके दु:खी होते रहते हैं यदि अतीत हमारा खराब था और वर्तमान अच्छा है तो भी स्मृतियों के कारण हम वर्तमान का सुख भी नहीं भोग सकते। अत: विगत बातें भूलना ही अच्छा है।

वर्तमान में जो कुछ तुम्हारे पास है, जो सुविधा तुम्हें मिल रही हैं; उससे अच्छी तुम्हें भविष्य में मिलेगी - यह तुमने कैसे सोच लिया? यदि हम बीज बबूल का बोयेंगे तो फल आम के कैसे मिलेंगे? हम वर्तमान में जैसे भाव करेंगे; वैसे ही तो भविष्य में उदय में आयेंगे। हमने पूर्व में जो पुण्य-पाप किए थे, वैसे ही तो उदय में आ रहे हैं। अत: तुम्हें वर्तमान में जो कुछ भी उपलब्ध हैं, उससे भागने की कोशिश नहीं करना चाहिए। यदि तुम पलायनवृत्ति अपनाते हुए भविष्य की मधुर कल्पनायें करोगे तो तुम सदैव दु:खी रहोगे; क्योंकि भविष्य कितना ही सुन्दर व आनन्दपूर्ण क्यों न हो; पर वर्तमान जितनी निश्चिन्तता व स्वतन्त्रता तुम्हारे पास नहीं रहेगी। क्या तुम गारन्टी से कह सकते हो कि तुम्हें जो कुछ वर्तमान में वर्तमान स्थल पर मिल रहा है, उससे गया-गुजरा (खराब) भविष्य में या अन्य स्थल पर नहीं मिलेगा? मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि तुम जिस दशा में हो, अन्य स्थल पर तुम्हारी उससे भी बुरी दशा होगी; क्योंकि बुराई स्थल में नहीं, मन में होती है, विचारों में होती है।

विकार! जीवन में हम स्वयं से प्रतिक्षण परिचित होते रहते हैं और अन्य व्यक्तियों से चन्द समय। अत: हमें अपने दु:ख अधिक नजर आते हैं व

अन्यजन बेहद सुखी नजर आते हैं और हम सोचने लगते हैं कि काश! उस जैसा जीवन मेरा भी होता; किन्तु हकीकत बिल्कुल विपरीत है। क्या तुमने कभी अनुभव किया कि हम जिस व्यक्ति के जितने निकट पहुँचते हैं, उतने ही हमें उसके दुखदर्द का ज्ञान होता जाता है। जिसके जीवन को हम कभी अपना आदर्श बनाए हुए थे, सम्पर्क में आने पर वह भी अपने जैसा ही प्रतीत होने लगता है। अत: यदि तुम यथार्थता से परिचित होना चाहते हो या मेरे अनुभवों से लाभ लेना चाहते हो तो मेरी बात ध्यान से सुनो।

लौकिक जीवन में कहीं भी अंशमात्र सुख नहीं है। हाँ, हमें कम दु:खों में सुख का आभास होने लगता है। जैसे किसी विद्यार्थी को रोज बीस डण्डे पड़ते हों तो उसे दस-पाँच डण्डे कुछ भी नहीं लगते तथा जिस दिन उसे डण्डे न पड़ें तो उसे चिन्ता हो जाती है कि आज क्या बात है? बेचारा सशंकित हो उठता है; अत: डण्डे खाने को बेताब रहता है, ताकि अनागत के संकट को टाला जा सके।

इतना सबकुछ होते हुए भी लौकिक जीवन जीना ही पड़ता है; अत: मेरा कहना है कि तुम उन घटनाओं के प्रति गूँगे व बहरे बन जाओ जो तुम्हें सताती है। पर लंगड़ापन, लूलापन और अंधापन जीवन में मत लाना अर्थात् निष्क्रियता व अविवेक जीवन में मत लाना। सुखी व शान्त जीवन के लिए यह बहुत आवश्यक है।

अभी तुमने देखा क्या है? तुम्हें मिला क्या है? जो तुम इतने व्यथित हो रहे हो, इतने दु:खी। यदि इतने में ही यह दशा है तो फिर जब इस बहुरंगी दुनिया के रंगों को देखोगे तो तुम्हारा क्या हाल होगा।

तुम्हें बदला लेने की भावना मन से निकाल देनी चाहिए; क्योंकि बदले की भावना आग है। आग जहाँ रखी जाएगी, पहले उसे ही जलाएगी, बाद में दूसरे को जलाए चाहे न जलाए। तुम तो इसका परिणाम भुगत ही रहे हो। तुम खुद समझदार हो। अत: विशेष क्या लिखूँ ? पर इतना अवश्य कहूँगा कि तत्त्वाभ्यास के बल से तुम अपनी परेशानियों से निजात पा सकते हो।

विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १ मार्च, १९९२ ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारी सभी बातें शत-प्रतिशत सही हैं। नीति को जैन-किटी में गेम जीतने पर दो किताबें इनाम में मिली थी। बारह भावना व धर्म के दशलक्षण। एक दिन जब मैं बहुत उद्विग्न था तो मन बहलाने के लिए छोटी सी पुस्तक बारह भावना को पढ़ने बैठ गया। अरे दोस्त, तुम्हें क्या बताऊँ! उस पुस्तक में तो गागर में सागर भर दिया गया है। एक-एक पंक्ति पर मन रीझ गया। मैं सोचने लगा कि जब शरीर ही अपना नहीं तो फिर उसके साथ घटनेवाली घटनाओं में इतनी उद्विगनता क्यों? जिन संयोगों से मैं उद्विगन हो रहा हूँ, जिनसे भागने की सोच रहा हूँ अथवा जिन्हें नष्ट करना चाहता हूँ; वे तो स्वयं ही क्षणिक हैं, नश्वर है। नाशवान वस्तु का नाश करने की सोचना पागलपन नहीं तो और क्या है? इसप्रकार नाना विचार करते हुए जब मन को शान्ति मिली तो मैंने धर्म के दशलक्षण को भी पढ़ना प्रारम्भ कर दिया। उसमें भी सरल भाषा में गम्भीर चिन्तन है। पुस्तक को एक बार पढ़ने बैठो तो बीच में छोड़ने का मन ही नहीं होता।

मैंने तुम्हारे सभी पत्रों की एक फाईल बनाली है, जिसे एक दिन मेरे एक मित्र ने पढ़ी और उसे कुछ प्रश्न उठे। यदि तुम उनका समाधान कर सको तो अच्छा है। उसका कहना था कि आत्मा की आराधना के लिए किया हुआ भोजन का त्याग ही उपवास है, बाकी सब लंघन है। वह बात मुझे कुछ जमती नहीं है; क्योंकि हम संसारी जीव आत्मा का ध्यान करने में समर्थ नहीं है तो क्या फिर हमें उपवास भी नहीं करना चाहिए? व्रत-उपवास के बिना मुक्ति कैसे सम्भव है? व्रत-उपवास तो आवश्यक ही है, मात्र ज्ञान से क्या होगा? यदि किसी ने बिना उपवास के मुक्ति प्राप्त की हो तो लिखना। अथवा किसी ने ज्ञान प्राप्त कर उपवास किया हो तो भी बताने की कृपा करना।

घर में सभी को यथायोग्य अभिवादन। पत्र की प्रतीक्षा में।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १२ अप्रैल, १९९२ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने स्वाध्याय प्रारम्भ कर दिया है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। जीवन में सुख व शान्तिपूर्वक रहने का एकमात्र उपाय यही है।

तुमने जो धर्म के दशलक्षण किताब पढ़ी है, उसी में तप के प्रकरण में उपवास के स्वरूप को स्पष्ट करते हुये कहा है –

"उपवास के नाम पर लंघन की बात क्यों करते हो? इसलिए कि ये लोग उपवास का ही सही स्वरूप नहीं समझते, मात्र भोजन के त्याग को उपवास मानते हैं; जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से भी विचार करें तो पंचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लंघन है –

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लघनकं बिदुः।।

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना – ज्ञान-ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है।"

तुम्हारे मित्र का दूसरा प्रश्न है कि यदि मात्र भोजन त्याग लंघन है तो फिर हम उपवास आदि क्यों करें?

इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर उसका समाधान करते हुए पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखते हैं –

"यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेंगे?

उपदेश तो ऊँचा चढ़ने को दिया जाता है, तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करेंगे? यदि मानादिक से उपवासादि करता है तो कर या मत कर कुछ सिद्धि नहीं है और यदि धर्मबुद्धि से आहारादि का अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा; परन्तु इसी को तप जानकर इससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट मत हो।"

बीमार अवस्था में बीमारी की वजह से किया गया भोजन का त्याग तो उपवास ही नहीं है। अपितु धर्म के नाम पर चारों प्रकार के आहार का त्याग भी अनशन नहीं है, अपितु रागादि के त्याग के साथ चारों प्रकार के आहार का त्याग अनशन है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि कषाय, विषय और आरम्भ का जहाँ संकल्पपूर्वक त्याग किया जाता है, वहाँ ही उपवास होता है, शेष सब लंघन है।

प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव ने दीक्षा लेने के बाद छह माह का उपवास किया, फिर भी उन्हें एक हजार वर्ष तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हुई, जबकि उन्हीं के पुत्र भरत

चक्रवर्ती दीक्षा लेने के बाद बिना उपवास किए ही आत्मध्यान के बल से अन्तरमुहूर्त्त में ही केवलज्ञानी हो गये।

यह उदाहरण नकली उपवास के नहीं, अपितु असली उपवास के हैं। इससे स्पष्ट है कि अन्नत्यागरूप उपवास यदि छह माह भी करे तो मुक्ति की गारन्टी नहीं; किन्तु यदि ध्यान लगातार अन्तर्मुहूर्त्त तक करे तो निश्चित रूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

यदि भोजनादि नहीं करने से ही मुक्ति होती तो फिर देवता लोग तो भोजनादि का त्याग आसानी से कर सकते हैं; क्योंकि उन्हें तो हजारों वर्ष तक भोजनादि का विकल्प भी नहीं आता तो फिर वे मुक्ति प्राप्ति के लिए मानव जन्म लेने के लिए क्यों तरसते हैं?

उपवास तप का भेद है। तप दो प्रकार के होते हैं - बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग तप छह प्रकार का होता है - १. अनशन २. अवमोदर्य ३. वृत्तिपरिसंख्यान ४. रसपरित्याग ५. विविक्तशय्यासन ६. कायक्लेश।

इनमें प्रथम चार बाह्यतप भोजनत्याग या नियमानुसार संयमित भोजन से सम्बन्धित हैं। (१) भोजन का पूर्णत: त्याग अनशन है (उपवास)। (२) दिन में एक बार शान्ति से अल्पाहार लेना अमोदर्य है। इसे एकासन या उनोदर भी कहते हैं। (३) भोजन को जाते समय नियमों में बंधकर भोजन करना वृत्तिपरिसंख्यान है। (४) बदल-बदल कर विभिन्न समय में विभिन्न रसों का त्याग रसपरित्याग है। उक्त चारों ही तप भोजन करने या न करने से सम्बन्धित है।

अन्नादिक के त्यागरूप उपवास को भी व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है, पर वे आत्मा की लीनतारूप उपवास के साथ-साथ होने चाहिए। अकेले अन्नत्यागरूप उपवास का मोक्षमार्ग में कोई स्थान नहीं है तथा आत्मज्ञानपूर्वक आत्मा के समीप रहनेरूप अथवा आत्मध्यानरूप उपवास से मुक्ति मानने में कोई हानि नहीं है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आचार्यों ने उपवास का निषेध नहीं किया है, किन्तु मात्र अन्नत्यागरूप उपवास से मुक्ति मानने का निषेध किया है; क्योंकि रत्नत्रय से ही मुक्ति होती है। मुक्ति के लिए अन्न त्यागरूप उपवास अनिवार्य नहीं, अपितु रत्नत्रय अनिवार्य है। जैसा कि कहा गया है - "रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है और रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है"

आशा है इस स्पष्टीकरण से तुम्हारा और तुम्हारे मित्र का समाधान अवश्य होगा। विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, १० मई, १९९२ ई.

डियर विचार,

तुम्हारा पत्र मैंने अपने मित्र को पढ़ाया, जिसे पढ़कर उसे बहुत प्रसन्नता हुई। वह कहने लगा कि मेरे कुछ साथी पर्यूषण पर्व में उपवास करते हैं, पर मुझे भूख बिल्कुल भी सहन नहीं होती। अतः जब भी बीमार पड़ता था व भूख नहीं लगती थी, तब तब मैं प्रतिज्ञा लेकर उपवास कर लिया करता था और सोचता था कि मेरे सारे पाप धुल गए। पर अब मुझे पता चला कि मैं जिसे उपवास समझता था, वह तो व्यवहार से भी उपवास नहीं है। उपवास में तो इच्छाओं के दमन की प्रधानता है, पर मैंने तो इच्छाओं के दमन का कभी प्रयास ही नहीं किया, अपितु उपवास करने के फलस्वरूप भी अनेक इच्छाओं की पूर्ति की कामना की। अतः धर्म के दशलक्षण पुस्तक में लिखा निम्न वाक्य मेरे ऊपर पूरा घटित होता है–

"हमने पेट के काटने को तप मान लिया है, जबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।"

मेरे साथी पर्यूषण में जब उपवास करते हैं, तब वे पिक्चर देखते हैं, ताश खेलते हैं और दिनभर खूब मौज-मस्ती करते हैं; पर अब मैं उन्हें समझाऊँगा कि उपवास के दिन अपना मन धर्मध्यान में लगाना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए। इन दिनों हमें अपना समय सांसारिक कार्यों में बर्बाद नहीं करना चाहिए, अपितु अधिक से अधिक समय अध्ययन, मनन और चिन्तन करना चाहिए।

उसके द्वारा उपवास करने की विधि पूछने पर मैंने तुम्हारा फरवरी ९१ वाला पत्र पढ़ा दिया। अब वह तुम्हारे सभी पत्र पढ़ना चाहता है। यदि तुम अनुमति दो तो मैं उसे पढ़ा दूँ।

तुमने लिखा है कि 'रत्नत्रय ही मुक्ति का कारण है' और 'रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है' तो भाई साहब! मुझे प्रथम तो यही समझ नहीं आया कि रत्नत्रय कहते किसे हैं? दोनों वाक्यों में क्या अन्तर है? मुझे तो दोनों वाक्य एक से ही लगे, फिर भी तुमने उन्हें दो बार क्यों लिखा है?

मेरा रिजल्ट आ गया है। नम्बर कुछ लिखने लायक नहीं है। यहाँ पर तो ट्यूशन का राज है, जो ट्यूशन में जाते हैं, उन्हीं के नम्बर अच्छे आते हैं। मैंने ट्यूशन नहीं ली थी। अतः अच्छे नम्बर आने का तो प्रश्न ही नहीं था।

विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, ५ जून, १९९२ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम मेरे पत्र अपने मित्र को अवश्य पढ़ाओ। मुझे उसमें क्या एतराज हो सकता है? छिपाए तो वे पत्र जाते हैं, जिनमें काम-भोग की चर्चा होती है। धर्म की चर्चा तो जितने अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचे, उतनी अच्छी है।

तुम्हारे नम्बर अपेक्षाकृत कम आए। इसका दोष तुम दूसरों पर मत डालो। दोस्त! असफलता को जीवन की एक साधारण-सी घटना ही समझना चाहिए। ठोकर खाकर मनुष्य को यह देखना चाहिए कि ठोकर उसने क्यों खाई? वह सही रास्ते पर ही जा रहा था या रास्ता भूलकर किसी और दिशा में चल पड़ा था।

यदि तुम गहराई में जाकर विचार करोगे तो तुम्हें अपनी ही कमी दिखाई देगी। जब तुम्हारे मन में अध्यापकों के प्रति आदरभाव ही नहीं है तो तुम उनसे कुछ कैसे सीख सकोगे? यदि उनसे शिक्षा ग्रहण नहीं कर पाओगे, तो अच्छे नम्बर कैसे आएंगे? यदि तुम अपने में गलती तलाशोगे तो तुम्हारी गलती निकलेगी व अगले वर्ष अच्छे नम्बर आएंगे, पर यदि दोष दूसरों में तलाशोगे तो अपनी कमी दूर करने की ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं जाएगा।

तुम स्वयं ही सोचो जब तुम्हारी परीक्षा का समय निकट था, तब तुम कितने तनाव में थे। एक तो तुम बम्बई में नए-नए थे। अत: अपने आप को एडजेस्ट करने में तुम्हारा कुछ समय गया होगा, दूसरे जिन दिनों तुम्हें अपना सारा समय अध्ययन में लगाना चाहिए था, उन दिनों तुम दार्शनिक बने हुए थे; अत: तुम अच्छे नम्बर कैसे ला सकते थे?

समय की नजाकत को समझते हुए तुम्हें अपने पर काबू रखना था, पढ़ाई में मन लगाना था; पर तुम तो भावनाओं के आवेग में बह गए। चलो जो हुआ सो हुआ, पर भविष्य में ध्यान रखना, सफलता के लिए एकाग्रता व तन्मयता के साथ-साथ उचित समय पर उचित निर्णय लेना भी आवश्यक है।

विकार! तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि अव्यवस्थित चित्त से चलता हुआ पथिक ठोकरें ही खाता है। पराजय व असफलता की घड़ियों से हम प्रेरणा और उत्साह ग्रहण करना सीखें तो सफलता हमारी सहचरी बन जाएगी।

रत्नत्रय से तात्पर्य है – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र।

'रत्नत्रय ही मुक्ति का मार्ग है' से तात्पर्य है कि रत्नत्रय ही मुक्ति का एक मात्र साधन है; अन्य किसी उपाय से मुक्ति सम्भव नहीं और 'रत्नत्रय मुक्ति का ही कारण है' से तात्पर्य है कि रत्नत्रय से मुक्ति ही होती है, बन्ध नहीं।

इन दोनों वाक्यों में 'ही' का स्थान परिवर्तन किया गया है। उससे ही दोनों वाक्यों के अर्थ में अन्तर आ गया है जैसे कि 'रोको मत, जाने दो' और 'रोको, मत जाने दो' इन दोनों वाक्यों में कोमा (अल्पविराम) का ही अन्तर है, पर अर्थ दोनों के एकदम भिन्न-भिन्न हैं।

विशेष क्या लिखूँ। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १० जुलाई, १९९२ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। मेरा मन व्यर्थ की बातों में न भटके और मेरी छुट्टियाँ भी मजे से व्यतीत हों; इसलिए मैंने टीचर के कहने पर अपना ग्रीष्मावकाश सोशलवर्क में व्यतीत किया। स्कूल की तरफ से कभी छोटे-छोटे गाँवों में अनपढ़ों को पढ़ाने के लिए ले जाया गया तो कभी अस्पतालों में अपाहिजों की सहायता के लिए।

ओह! गाँवों में मैंने जो नजारा देखा, उससे मेरा दिल भर आया। गाँवों में लोग अपने कष्टों, तकलीफों और दर्दों को हम बच्चों से छिपाने का असफल प्रयास कर रहे थे, 'पर सभी निष्फल' क्योंकि दर्द तो ऐसी बला है, जिसके पास जाता है, जहाँ जाता है, वहाँ शोर ही शोर हो जाता है। मौन रहना इसने सीखा ही नहीं है, इसने तो पत्थर को भी बुलवाने की कसम खा रखी है। जो अपना दर्द वचनों से छिपाने का असफल प्रयास कर रहे थे, उनकी आँखें बोल रही थीं; शरीर का अंग-अंग बोल रहा था। जो अंग-अंग से बोलता हो, उसे छिपाया भी कैसे जा सकता है।

और अस्पतालों में आह! आह!! आह!!!, दर्द! दर्द!! दर्द!!! बस चारों तरफ दर्द ही दर्द। कहीं बच्चे बिलख रहे थे तो कहीं बूढ़े कराह रहे थे। कहीं पुरुष बेचैन थे तो कहीं नारियाँ तड़फ रही थीं।

इसप्रकार सभी दुःखी थे, पर नारियों का दर्द अधिक कष्टदायी था; क्योंकि दूसरों के दर्दों के निवारण का उपाय किया जा रहा था और उनके लिए दर्द का इंतजार किया जा रहा था। उनके लिए 'दर्द होना' नहीं, अपितु 'दर्द न होना' चिंता का विषय बना हुआ था। अतः उनके दर्दनिवारण का नहीं, अपितु दर्द लाने का उपाय किया जा रहा था। पहली बार देखा था मैंने यह सब नजारा। ओफ! कितना तकलीफ-देह है नारी का माँ बनना? लगता है नारी के इसी रूप को देखकर कवि ने कहा है कि –

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

विचार, हम सबको ये दर्द होता ही क्यों है? क्या इससे मुक्ति संभव नहीं? यदि हाँ तो कैसे? कैसे?? कैसे???

जवाब के इंतजार में,

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ३ अगस्त, १९९२ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने लिखा – आह! आह!! आह!!!, ओह! ओह!! ओह!!! सच, जवाब नहीं इन शब्दों का। लाजवाब ही हैं ये! क्या कहूँ इनके बारे में? ये दोनों शब्द ही अपने आप में अपना अर्थ समाए हुए हैं। फिर तुमने तो दर्द पर पूरा एक लेख ही लिख दिया है। हर दम हर पल हम इन शब्दों से ही तो खेलते रहते हैं। चाहे खुशी हो या गम, दु:खी हों या प्रसन्न या हम आश्चर्यान्वित ही क्यों न हों – पर बस, ये दो शब्द ही निकलेंगे आरंभ में। दु:खों में तो सभी आह भरते ही हैं, पर ईर्ष्यालु जीव दूसरों के सुखों पर भी आह भरते देखे जाते हैं।

तुम्हारा पत्र पढ़कर तो नारी दर्द की प्रतिमूर्ति ही नजर आई। प्रतीत होता है कि तुमने किसी नारी के चंद दर्दमयी क्षणों को देखकर अपने ये विचार बना लिए हैं। तुमने जो नारी के बारे में लिखा है, वह मात्र किसी समय में किसी स्थान विशेष पर व किन्हीं नारियों के बारे में; सत्य हो सकता है, पर सम्पूर्ण नारी जाति पर व सभी कालों में नहीं। तुम रोने से, चिल्लाने से दु:ख का अंदाज क्यों लगाते हो? पुरुषों को भी नारियों से कम दु:ख नहीं। नारियाँ तो रोकर दु:ख कम कर लेती हैं, पर पुरुष···। उनके बारे में मैं क्या लिखूँ?

यह तो तुम जानते ही हो कि दर्द की यह विशेषता होती है कि बिना कहे पास खड़े व्यक्ति तक को उसकी आहट भी नहीं होती; जबकि भोक्ता, पीड़ा में डूबा रहता है। पुरुषों के ऊपर यही स्थिति लागू होती है। जहाँ तक सांसारिक दु:ख-सुख की बात है तो उसका अनुभव तो प्रत्येक प्राणी प्रत्येक क्षण करते रहते हैं, सिर्फ नारी ही नहीं। तथा पारमार्थिक सुख तो संसार में है ही नहीं; उदाहरण के तौर पर हम सभी बड़े कष्ट से पैसा कमाते हैं। खून-पसीना एककर कमाए गए उस पैसे को भोगोपभोग की सामग्री जुटाने के लिए पानी की तरह बहा देते हैं। भूख से संतप्त हम सुखी होने के लिए ही पेट भरते हैं, फिर सुखी

होने के लिए ही पेट खाली भी करते हैं। अब तुम्हीं बताओ पेट भरने में सुख है या पेट खाली करने में? पैसा कमाने में सुख है या पैसा खर्च करने में ?

नहीं, सुख कहीं नहीं है। न खाने में, न निकालने में; न पैसा कमाने में, न खर्च करने में। संसार में सुख है ही नहीं। संसार में जिन वस्तुओं की उपलब्धि को हम सुखदायी समझते हैं; वे सभी हमें दु:खपूर्वक उपलब्ध होती हैं। साथ ही साथ एक सीमा के पश्चात् वे दु:खदायी भी हो जाती हैं। जैसे अधिक खाने पर अजीर्ण हो जाता है।

न केवल मनुष्य गति; अपितु देव गति, नरक गति व तिर्यंच गति – सभी दु:खों से भरपूर हैं। इस संसार में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी प्राणी निगोद से लेकर मानवपर्यन्त सभी जगह दु:ख ही भोगते हैं; फिर भी अज्ञानी जीव अज्ञानवश पुण्य के उदय से मिलने वाली भोग सामग्री की उपलब्धि को सुख मान लेते हैं, अपनी इच्छाओं की तृप्ति में सुख मान लेते हैं; जबकि सुख इच्छाओं की तृप्ति में नहीं, इच्छाओं के अभाव में है। यदि इच्छाओं की तृप्ति में सुख हो तो हम कभी भी सम्पूर्ण सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि इच्छाओं का कोई अन्त नहीं। एक इच्छा की पूर्ति हो नहीं पाती कि दूसरी इच्छा हाजिर हो जाती है। सभी इच्छाओं की पूर्ति तो संभव नहीं; अत: हम सदा अतृप्त रहते हैं, महादु:खी होते रहते हैं।

पारमार्थिक सुख इच्छाओं के अभाव का नाम है, तृप्ति का नहीं। अत: पारमार्थिक सुख दु:ख रहित है।

सम्पूर्ण दु:खों से मुक्ति का एकमात्र उपाय इच्छाओं का अभाव करना है। इच्छाओं का अभाव 'स्वानुभूति' से होता है। अत: दु:खों से मुक्ति का एकमात्र उपाय 'स्वानुभूति' ही है।

विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. ५ सितम्बर, १९९२ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। इच्छा! इच्छा!! इच्छा!!! बिल्कुल सही लिखा है तुमने इस दुष्टा के बारे में। चाह, आशा, आकांक्षा, कामना, वांछा, अभिलाषा – न जाने कितने नाम हैं इस अतिनिष्ठुरा के। क्या नहीं करवाती है यह? कहाँ नहीं ले जाती है यह?

विचार, तुमने लिखा कि मैंने किसी एक नारी के चंद दुःखी क्षणों को देखकर समस्त नारियों को दुःखमयी समझ लिया है। नहीं, विचार! ऐसी बात नहीं है। मैंने जो देखा, उस पर काफी विचार किया; तभी इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। अच्छा, तुम्हीं बताओ नारी का माँ बनना क्या किसी एक नारी पर लागू होता है, सम्पूर्ण नारी जाति पर नहीं? नहीं; ये कष्ट, ये वेदना सभी नारियों के लिए अनिवार्य है, चाहे वह हिन्दुस्तान की हो या चाहे अमेरिका की, चाहे वह भूतकाल में हुई हो या भविष्य में होगी – यह तो एक सार्वभौमिक सार्वकालिक सत्य है। जो नारियाँ प्रसव वेदना के भयानक दर्द से बची थीं, उन्हें अनेकों प्रकार से इतना सताया गया था कि कुछ पागल हो गईं तो कुछ अधमरी पलंग पर बेजान-सी पड़ी थीं। उनके मानस को इसप्रकार तैयार किया गया था कि वे माँ बने बिना अपूर्ण हैं, उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य माँ बनना है। अतः कैसे भी हो अपने जीवन में दर्द को लाओ। कोई पति द्वारा सताई हुई थी तो कोई सास द्वारा। आखिर नारी ही नारी को इतना कष्ट क्यों देती है? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

जब उन्हें इतना शारीरिक कष्ट है, तो क्या उन्हें मानसिक वेदना न होती होगी? ये नारियाँ असहनीय मानसिक, शारीरिक वेदना को झेलती हुई कैसे जी लेती हैं? आखिर कैसे??

इतना सब कुछ झेलते हुए भी वह बेचारी कर कुछ नहीं सकती। नहीं, नहीं; शायद मैं गलत लिख गया। वे तो बहुत कुछ कर सकती हैं। कौन कहता है, वे कुछ नहीं कर सकतीं? वे सबकुछ 'सह' तो सकती हैं। क्या 'सहना' कुछ करना नहीं है? यह तो सबसे बड़ा करना है।

एक यही तकलीफ नहीं है नारियों को। परतंत्रता सबसे बड़ा दुःख है और नारी परतंत्र है, स्वेच्छा से वह कुछ कर ही नहीं सकती। पिता द्वारा, पति द्वारा उसके ऊपर अनेकों बंधन लाद दिए गए हैं। जो कुछ करना है, उन्हीं सीमाओं में रहकर करो, अन्यथा सभी उसे सजा देने के हकदार हो जाते हैं। कभी पति सजा देता है, तो कभी परिवार, तो कभी समाज बहिष्कार कर देता है। पता नहीं नारी कैसे जी लेती है ऐसा जीवन?

पति हो या पुत्र – गलती कोई भी करे, पर सजा नारी को ही भुगतनी पड़ती है। समर्थ हो या असमर्थ, बुद्धू हो या बुद्धिमान, कायर हो या वीर, अपराधी हो या निरपराधी – पर सजा की अधिकारिणी सिर्फ नारी ही है, सिर्फ नारी। दण्ड उसे मिलता है, सिर्फ उसे।

यह रीति आज से नहीं, न्यायप्रिय कहलाने वाले राजा राम के जमाने से चली आ रही है। नीयत रावण की बुरी थी, सीता की नहीं; पर कलंकिनी सीता हुई, रावण नहीं। गलती राम की थी, सीता की नहीं; पर अग्निपरीक्षा सीता को देनी पड़ी, राम को नहीं। वचनबद्ध दशरथ थे, कैकेयी नहीं; पर बदनाम कैकेयी हुई, दशरथ नहीं।

सारी सजाएँ नारी को ही क्यों? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

घर में सभी को यथायोग्याभिवादन। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ५ अक्टूबर १९९२ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम दूसरों के दर्दों को देखकर द्रवित होते हो, उस पर विचार करते हो – यह अच्छी बात है। उन्हें दूर करने का प्रयास करो, यह भी उचित है। पर उस दर्द में डूब जाना, उस दर्द को अपना दर्द बना लेना अच्छा नहीं। इससे कोई लाभ नहीं; क्योंकि इससे हम दूसरों के दर्द को तो दूर नहीं कर सकेंगे तथा स्वयं ही व्यर्थ में दु:खी होते रहेंगे। जो कष्ट तुम दूर कर सकते हो, वो अवश्य दूर करो। पर जिस कष्ट के बारे में तुम क्या, कोई भी कुछ नहीं कर सकता; उसके लिए इतना व्यथित होना, दु:खी होना कहाँ तक सही है? नारी की प्रसव वेदना ऐसी ही वेदना है।

देखो विकार! प्रकृति-प्रदत्त जो अंतर नर व नारी में है, वह तो रहेगा ही; उसे तो बदला नहीं जा सकता। यह तो हम सब जानते ही हैं कि नर की अपेक्षा नारी शारीरिक दृष्टि से कमजोर है; अत: जो कार्य पुरुष अपनी शक्ति के बल पर करता है, वही कार्य स्त्री अपनी वाक्पटुता से करती है। शास्त्रों में कहा भी है कि स्त्रियों में माया की बहुलता पाई जाती है। कुछ भी हो नारी अपनी जिन कमजोरियों के कारण उत्कृष्ट धर्म, उत्कृष्ट पुण्य नहीं कर सकती; वही कमजोरियां उसे सातवें नरक में जाने लायक तीव्र पाप से भी बचाती हैं।

तुमने पूछा कि नारियाँ इतने कष्ट क्यों झेलती हैं? तो, दोस्त मेरे! एक सुखी जीवन जीने की इच्छा ही उन्हें इतने कष्ट झेलने को मजबूर करती है। पर ये इच्छायें तो मृगमरीचिका जैसी हैं। जिसप्रकार रेगिस्तान में मृग पानी की तलाश में इधर-उधर प्यासा ही भटकता रहता है, पर एक बूंद पानी भी उसे नहीं मिलता; उसीप्रकार इस संसार में समस्त संसारी प्राणी सुख की चाह में चारों गतियों में भ्रमण करते रहते हैं, पर उन्हें सुख कहीं नहीं मिलता – यही सार्वभौमिक सार्वकालिक सत्य है।

मात्र नारी की नहीं, अपितु प्रत्येक संसारी जीव की प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य दु:ख दूर करना व सुख की प्राप्ति है। प्राणीमात्र किसी भी कार्य को करने के लिए तभी प्रयत्नशील होते हैं, जबकि उन्हें कोई भी कार्य करने में अपने उद्देश्य सुख की प्राप्ति की पूर्ति दृष्टिगोचर होती है। अपने इस उद्देश्य की आंशिक पूर्ति के लिए भी वह बड़े-से-बड़ा कष्ट सहने को तैयार रहता है। इसके विपरीत सहज-सम्पन्न होने वाले कार्य में यदि उसे सुख की प्राप्ति नजर नहीं आती तो वह उस कार्य को करने में अपनी अरुचि प्रदर्शित करता है। हमने भोगों की प्राप्ति को सुख समझ लिया है, वास्तव में वह सुख है ही नहीं; वह तो दु:ख का ही एक रूप है। जैसे कि भूखे-प्यासे सड़क पर सोने वाले किसी व्यक्ति को जेल हो जाए तो उसे वह जेल सुखदायी लगती है; क्योंकि जेल में रहने को जगह है, दो समय खाना मिलता है, पर जेल से बाहर वह भी नसीब नहीं – यह तो हुई लौकिक सुख की बात।

पारमार्थिक सुख तो रुचि-अरुचि, राग-द्वेष से परे आकुलता रहित है। राग-द्वेष से पुण्य और पाप का बंध होता है। पुण्य और पाप तो बंध के ही कारण हैं, मुक्ति के नहीं। मोह-राग-द्वेषादि विकारीभावों के कारण ही जीव दु:खी हैं। जीवों के दु:खों का मूल कारण ये विकारी भाव ही हैं। अत: समस्त दर्दों व दु:खों से मुक्ति पाने के लिए इन विकारों का नाश करना अनिवार्य है।

विशेष क्या। घर में सभी को यथायोग्याभिवादन। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १५ नवम्बर, १९९२ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। विकारों के बारे में लिखते हुए तुमने कुछ मेरे बारे में तो सोचा होता? तुमने तो मुझे ही (विकारों को ही) दुःखों का एकमात्र कारण बता दिया। क्या सचमुच विकार इतने बुरे होते हैं? या तुम मेरे नाम के साथ मजाक कर रहे थे? यदि विकार बुरे होते हैं तो फिर मेरे माता-पिता ने मेरा यह नाम क्यों रखा? क्या और अच्छे नाम नहीं थे? हम और कुछ नहीं कर सकते, पर नाम तो अच्छे रख ही सकते हैं। क्या मेरे में पैदाइशी बुराइयाँ ही बुराइयाँ थीं, जो मेरा नाम विकार रख दिया। मुझे यह तो मालूम ही था कि मेरे माता-पिता मुझे कम व दीदी को अधिक चाहते हैं, पर मैं अपने आपको यह कहकर संतोष दे दिया करता था कि मैं उद्दंड हूँ, किसी की कुछ सुनता नहीं हूँ; अतः वे मुझसे नाराज रहते हैं; किन्तु मैं पैदा होते समय तो उद्दंड नहीं था, बुरा नहीं था? फिर मेरा नाम इतना बुरा क्यों? दीदी का तो नाम भी कितना अच्छा है नीति। वाह! वाह!! क्या कहने हैं मम्मी-डैडी के ? उन्हें तो मैं जन्म से ही बुराइयों का पिंड व दीदी अच्छाइयों का खजाना नजर आई। जब मेरा नाम ही ऐसा है तो फिर मैं काम भी वैसा ही क्यों न करूँ? करूँगा, अवश्य करूँगा। अपने नाम की सार्थकता सिद्ध कर दूँगा।

मम्मी! मम्मी तो बस नीति को ही चाहती है, मुझे नहीं। उन्होंने आज तक मुझे कभी प्यार से नहीं सहलाया, कभी गोदी नहीं लिया और दीदी इतनी बड़ी हैं, तो भी उससे लाड़ करती रहती हैं। सभी बच्चों की मातायें उन्हें प्यार करती हैं, फिर मेरी ही मां ऐसी क्यों? विशेष क्या लिखूँ?

विचार! आज ही मैंने न्यूजपेपर में पढ़ा कि एक औरत ने अपने बेटों को बचाने के लिए अपने ही पति को जान से मार डाला। यह समाचार पढ़कर मैं सोचने लगा कि – मां की ममता कैसी विचित्र होती है? ममता के वश वह कभी मौत को गले लगा लेती है तो कभी दूसरों को मौत के घाट उतार देती है। ममता के वश नारी न जाने क्या-क्या पाप कर जाती है? जो ममता अपने बेटे के लिए सबकुछ त्याग देने को तत्पर रहती है, वही ममता दूसरों का सबकुछ छीनने से भी नहीं हिचकिचाती। शास्त्रों में भी ऐसे उदाहरण मिल जायेंगे। कैकेयी की भरत के प्रति ममता ही तो थी, जिसने राम से राज्य छीना, उन्हें वनवास के लिए मजबूर किया। ऐसी ममता क्यों दी मां को? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों??? ये ममता मेरी मां में मेरे लिए क्यों नहीं? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

शेष फिर।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, १० दिसम्बर १९९२ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर आश्चर्य के साथ-साथ खेद भी हुआ। तुमने ये कैसे सोच लिया कि मैं तुम्हारा मजाक उड़ा रहा हूँ? मैंने तो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दिया था कि दु:खों का मूल कारण विकार है। इसे तुम अपने ऊपर क्यों ले रहे हो? अब मैं तुम्हारे दु:खों का कारण समझ गया। तुम बे-सिर-पैर की बातें सोचते रहते हो और मन ही मन दु:खी होते रहते हो। तुम न जाने कितने वर्षों से अपने माता-पिता के बारे में ऐसी गलत धारणायें मन में समाकर बैठे हो। तुम्हारी उद्दंडता का भी यही कारण है। जब तुम्हारे मन में उनके प्रति आदर भाव ही नहीं है तो फिर तुम उनकी बात भी नहीं सुनते होगे, उनका कहना भी नहीं मानते होगे। अच्छा रहा विकार के माध्यम से ही सही, पर तुम्हारे मन के भाव प्रगट तो हुए।

देखो, विकार! हमारे जीवन में हमारे सबसे अधिक शुभचिंतक व सबसे अधिक हितैषी माता-पिता ही होते हैं, जो कि नि:स्वार्थ भाव से हमारी उन्नति की कामना करते हैं। वे स्वयं अपना अहित करके भी अपने बच्चों का हित चाहते हैं। वे हमारी उन्नति में बाधक नहीं, साधक हैं। अत: उनके बारे में लिखे गए तुम्हारे विचार अशोभनीय हैं, अनुचित हैं।

मित्र, हमारे माता-पिता हमें हमेशा हमारी बुराइयों से अवगत कराते रहते हैं। इसमें उनका उद्देश्य हमें नीचा दिखाना नहीं, अपितु हमारी बुराइयाँ दूर करना है। तुम जरा सोचो, यदि सभी हमारी प्रशंसा करते रहें और कोई भी हमें हमारी बुराइयाँ न बताए, तो फिर बुराइयों से, गल्तियों से अनभिज्ञ हम उन्हें दूर कैसे करेंगे? क्या मैं तुम्हें तुम्हारी गल्तियाँ नहीं बताता? तो क्या इससे मैं तुम्हारा दुश्मन हो गया? नहीं न! दुश्मनों को तो हम गलत रास्ते पर बढ़ाना चाहते हैं, गल्तियां तो अपनों की ही निकालते हैं, ताकि वे सफलता की उस

मंजिल को प्राप्त कर सकें, जिसे किसी ने नहीं पाया हो। हम सभी चाहते हैं कि तुम अपनी योग्यता का उचित उपयोग कर अद्वितीय सफलता हासिल करो।

देखो! तुम्हारे ही विचारों में कितना विरोधाभास है। अपने पत्र में ही एक तरफ तो तुम मां की ममता के गुणगान कर रहे हो और उसी पत्र में दूसरी तरफ तुम अपनी ही मां पर लांछन लगा रहे हो। ये विरोधाभास क्यों? क्यों?? क्यों??? क्या तुम्हारी मां "मां" नहीं है, क्या उसमें ममता नहीं है? विकार, तुमने अपनी आँखों के ऊपर बुराइयों का काला चश्मा चढ़ा रखा है; अत: तुम्हें अपने मां-बाप बुरे, बुरे और बुरे ही नजर आते हैं।

विकार! मां में यदि तीव्र राग न होता, यदि उनमें अगाध ममता समाई हुई न होती, तो हमारी-तुम्हारी उत्पत्ति ही न होती। यह ममत्व, यह राग ही है – जो नारी को असहनीय दु:ख झेलने की ताकत देता है। अपने प्राणों की बाजी लगाकर जब वह संतान को उत्पन्न कर सकती है, तो क्या वह उनकी रक्षा के लिए कुछ नहीं कर सकती? कर सकती है, अवश्य करती है।

बस, यही कारण है तुम्हारी मां का तुमसे दूर रहने का, प्यार न जताने का। बात उन दिनों की है जब तुम्हारी मां गाँव में रहती थीं। तब तुमसे पहले तुम्हारे दो भाई जीवित नहीं रहे थे, तब किसी ज्योतिषी ने तुम्हारी मां से कह दिया कि तुम अपने बेटों को बहुत प्यार करती थीं, अत: वे तुमसे दूर चले गए। अब तुम्हें एक और बेटा होगा, जिसे तुम प्यार न करना। उसका नाम भी बेकार-सा रखना ताकि उसे नजर न लगे। जब तुम पैदा हुए तो उन्हें ज्योतिषी की बात सच होती नजर आई; क्योंकि तुम बचपन से ही बहुत कमजोर थे व बीमार रहते थे। अत: मन से न चाहते हुए भी तुम्हारी दीर्घायु की कामना करती हुई वे तुमसे रूखा व्यवहार करने लगी। तुम्हें नजर न लगे इसलिए तुम्हारा नाम विकार रखा। आयु लम्बी होने से तुम्हें तो कुछ नहीं होना था, पर उनकी मिथ्या मान्यता अवश्य पुष्ट हो गई। बम्बई आने पर भले ही वह बाहर से मार्डन हो गई हों, पर संस्कार तो वही पुराने हैं। इसलिए वे नफरत की नहीं, क्रोध की भी नहीं; दया की पात्र हैं। उन्हें धीरे-धीरे समझाकर तुम

उनके मन से वह वहम दूर कर दो। फिर देखना वे कैसे तुम पर मर मिटती हैं। वैसे भी प्यार करना व प्यार की अभिव्यक्ति – ये दोनों अलग-अलग बातें हैं। तुम प्यार की अभिव्यक्ति को ही गहन प्यार का प्रमाण मान बैठे हो और उसकी अनभिव्यक्ति की अवस्था में प्यार की इतिश्री। पर दोस्त मेरे! ऐसा नहीं है, प्यार 'मुखर' नहीं 'मूक' होता है। प्यार 'स्वाश्रित' होता है और प्यार की अभिव्यक्ति 'पराश्रित'। अत: प्यार की अभिव्यक्ति को ही गहन प्यार का प्रमाण मानना अथवा उससे प्यार का नाप-तौल करना उचित नहीं है; क्योंकि पराधीन वस्तु से स्वाधीन वस्तु की नाप-तौल कैसे हो सकती है? क्या व्यक्त पदार्थों से अव्यक्त पदार्थों का सही ज्ञान हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं। इसीलिए तो कहा गया है कि –

''जाकै पैर न फटी विवाई वो क्या जाने पीर पराई।''

सभी मां-बाप अपने बच्चों को एक-सा चाहते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि जो कमजोर होता है या छोटा होता है उस पर अधिक ध्यान देते हैं, जो कि उसकी जरूरत है। देखो विकार, तुम्हें कुछ कमी नहीं है, सब सुख-सुविधाएँ तुम्हें उपलब्ध हैं, फिर भी तुम दु:खी ही नहीं, महादु:खी हो; क्योंकि तुमने अपने मन में अनेकों भ्रम पाल रखे हैं। दु:ख दूर करने व सुखी होने का उपाय भ्रम दूर करना है। वास्तव में दु:ख वस्तु में नहीं, अन्य व्यक्ति में भी नहीं; वस्तुत: स्वयं हमारे अंदर है और सुख भी हमारे अंदर है। सुख को पाने के लिए हमें कहीं और नहीं जाना है, अपने आपको खोजना है। अपने आपको खोजना क्या है, आत्मा में ही रम जाना है, जम जाना है।

समय अधिक हो गया है; अत: इस बारे में फिर कभी लिखूँगा। तुम्हारे मन में कुछ और भी बातें हों तो लिखना, लिखने से मन हल्का हो जाता है। वैसे तो तुम स्वयं समझदार हो। बस मन की ट्रेन जरा गलत ट्रेक पर चली गई थी।

पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. २० जनवरी, १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र पढ़ा और बार-बार पढ़ा। पढ़कर मैं अतीत की उन घटनाओं में खो गया, जिन्हें मैंने जान-बूझकर भुला रखा था। दिमाग पर जरा जोर डाला तो सबकुछ चलचित्र के समान नजरों के सामने से गुजरने लगा। परत-दर-परत समस्त घटनाएँ खुलती गईं। सो उचित ही है; क्योंकि जो कुछ हो चुका, उसे अनहुआ नहीं किया जा सकता। हमारा मन एक ऐसी शिला है, जिसपर विगत घटनाएँ सदा अंकित रहती हैं; जो समय-समय पर चित्त को आन्दोलित करती रहती हैं।

जो घटनाएँ भूतकाल में मेरे साथ घटी थीं, उन सबको सोचना भी कितना कष्टदायी है? कभी-कभी कमजोरी के क्षणों में सभी घटनाएँ दिमाग पर वार करने लगती थीं, तो मैं उन्हें बलात् धकेलकर बाहर कर देता था, विचार शृंखलाओं की सीमा में उनका प्रवेश वर्जित था। पर नहीं, आज नहीं; क्योंकि आज तो एक-एक घटना से सामना करना है, एक-एक घटना का विश्लेषण करना है तथा उन विषवृक्षों को समूल नष्ट करना है, जो मुझे दुःख देते रहते हैं, सताते रहते हैं – ऐसा दृढ़ निश्चय कर जब मैंने स्मृति सागर में डुबकी लगाई, तो एक-एक घटना मेरी नजरों के सामने से गुजरने लगी।

संयम का बांध टूटते ही विचारों की जलधाराएं किस तेजी से विभिन्न दिशाओं में बही थीं? औफ्फ! सोचते भी आश्चर्य होता है, उनकी शक्ति अपरिमित थी, वे विचारधाराएं कलम की सीमा में तो आना ही नहीं चाह रही थीं। फिर जैसे-तैसे अपने को संभालकर जब उनका विश्लेषण किया तो मैंने पाया कि मैं कहीं गलत था ही नहीं। तब मैंने सोचा कि हो सकता है कि रागवश मुझे अपने दोष नजर न आ रहे हों अथवा अज्ञानवश में जिन्हें गुण समझ रहा हूँ वही मेरे दोष हों।

अस्तु, जो भी हो मैंने निर्णय किया कि विगत को भुलाकर ही नये सिरे से अपना जीवन प्रारम्भ करना चाहिए, अपने व्यवहार को बदलना चाहिए, और सबकुछ भूलकर मैं अपने व्यवहार को बदलने का प्रयास करने लगा। किन्तु तभी यह घटना घट गई।

हुआ यों कि एक दिन मैं पापा के पास क्रिकेट खेलने की अनुमति लेने गया। मैं वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि पापा की गर्जना सुनाई दी। नहीं तुम २० तारीख के मैच में भाग नहीं लोगे।

विचार, हमेशा मेरे ही साथ ऐसा क्यों होता है? हमेशा ही मेरी तीव्र इच्छाओं को इसीप्रकार की नकारात्मक गोलियों द्वारा क्यों भून दिया जाता है? आखिर क्यों?? क्यों???

मैंने कितनी ही बार अपनी रुचियाँ बदली हैं, बड़ों की रुचि अनुसार अपनी रुचि बना ली है। पर नहीं, मानों सबको मेरे कामों से ही विरोध है, जो मैं करूँगा, बस वही काम वे मुझे नहीं करने देंगे? चाहे वह काम स्वयं उन्हें ही कितना पसंद क्यों न हो? बस वे तो अपना अधिकार मुझ पर जताना चाहते हैं।

ठीक है, मैं भी उनके भावों को समझ गया हूँ। मैं जो काम नहीं करना चाहता हूँ, अब से मैं उसे ही करने के लिए जिद्द करूँगा, ताकि जो चाहता हूँ, वह कर सकूँ; क्योंकि आज तक मैंने यही देखा है कि जो मैं करना चाहता हूँ, वे मुझसे उससे बिल्कुल विपरीत कार्य कराते हैं।

विचार, तुम देखना आज ये जो सभी मुझे गेम खेलने से रोक रहे हैं, वे ही सब कल मुझे मनायेंगे कि जाओ खेलो, अवश्य खेलो, खेलों में भाग लेना सेहत के लिए अच्छा है। इसप्रकार सभी मनायेंगे, पर मैं मना करूँगा।

कैसी विचित्र विडम्बना है मेरे साथ! जब जिस कार्य को करने की जितनी तीव्र इच्छा होती है, तभी उसी कार्य का उतनी ही तेजी से विरोध होता है, मेरी इच्छा दबा दी जाती है और जिस कार्य से मुझे वितृष्णा होती है, घृणा होती है; उसे ही मुझे करना पड़ता है; मात्र करना ही नहीं पड़ता, उसे अपनी चाहत बनाना पड़ता है – इन सब द्वन्द्वों से बचने के लिए मैंने अपने आपको चिकना घड़ा बना लिया है।

विचार, कैसी छोटी-छोटी-सी बातें हैं, जो मेरे मन को विषाक्त बनाए हुए हैं? क्या मैं इस विष से उबर नहीं सकता? क्या मैं इस तरह सफलता की श्रेणियाँ प्राप्त कर सकूँगा?

मेरा मस्तिष्क बहुत उलझन में पड़ा है। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहा हूँ। जब मैं अपने साथियों को देखता हूँ तो पैर दौड़ने को फड़फड़ाने लगते हैं। कबतक अपने पर काबू रखूँ? आखिर कबतक??

कैसा व्यवसायिक मस्तिष्क है मेरे पिता का? हर वस्तु को लाभ-हानि की दृष्टि से तौलते हैं। भावनाओं का कोई मूल्य ही नहीं है उनको? वे यह क्यों नहीं समझते कि खेलना भी उतना ही जरूरी है, जितना पढ़ना।

फिर मैं कोई गली-कूचे में खेलने तो नहीं जा रहा हूँ। मैं तो राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले खेलों में भाग ले रहा हूँ। उस दिन वे कितने खुश हुए थे, जब मैं उन्हें बिना बताए ही स्कूल में खेला था और इनाम जीता था? और आज जब मैं अपने अच्छे खेल के कारण टीम में चुन लिया गया, तो बस अपने वाग्बाण चला दिये। नहीं, तुम नहीं खेलोगे। जबकि पापा के मित्र एवं अन्य भी सभी परिचित मुझे खेलने को प्रेरित कर रहे हैं। ये बड़े लोग हमारी भावनाओं को क्यों नहीं समझते? हम पर जबरदस्ती अपनी इच्छायें क्यों थोपना चाहते हैं? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

इसप्रकार सभी मेरा दिल तोड़ते रहते हैं और सोचते हैं कि मेरा भला कर रहे हैं। सही कहा है प्रसादजी ने –

रूखा शीशा जो टूटे तो सब कोई सुन पाता है।
कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनाई पड़ता है॥

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १६ फरवरी १९९३ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे पत्र से तुम्हारी अस्थिर मन:स्थिति का भान हो रहा है। मित्र! मानसिक अस्थिरता में पूर्वघटित घटनाओं का सही आकलन नहीं किया जा सकता है और न ही वर्तमान में घटी घटनाओं पर नए शिरे से विचार ही किया जा सकता है; क्योंकि अचानक घटी हुई घटनाओं पर हमारी प्रतिक्रिया घटनाओं के अनुरूप नहीं, अपितु अपनी पूर्व पृष्ठभूमि के अनुरूप ही होती है। - यही कारण है कि तुम अपनी भूतकाल की घटनाओं व वर्तमान की घटनाओं का सही आकलन नहीं कर सके हो। अस्वस्थ मन विवेकपूर्ण उचित निर्णय कर ही नहीं सकता। मन के अस्थिर रहते हुए स्थिर विचारों की दिशा में अग्रसर होना असंभव तो नहीं, किन्तु कठिन अवश्य है।

यह तो तुम जानते ही हो कि हम भावनाओं में बहकर सर्वांगीण चिंतन नहीं कर पाते हैं। अत: किसी एक दृष्टि से एक पहलू पर ही विचार कर हम कुछ भी कार्य करने की सोचने लगते हैं। जबकि माता-पिता सभी पहलुओं के गुण-दोषों का आकलन कर हमें सही व उचित सलाह देते हैं। जब हम वह सलाह नहीं मानते, तो वे हमें प्यार से, मारकर, डांटकर अथवा आज्ञा देकर - येन-केन प्रकारेण हमें सही दिशा-निर्देश देना चाहते हैं। गलत दिशा में कदम उठाकर हम असफलता का वरण करें - यह उन्हें स्वीकार नहीं।

अब तुम्हारे क्रिकेट खेलने की बात ही लो। स्कूल में खेलने के लिए तुम्हें प्रेक्टिस की जरूरत नहीं थीं। उसमें अधिक समय खराब नहीं होता था। अत: तुम्हारे मम्मी-पापा ने तुम्हें खेलने से रोका नहीं, तुम्हारी जीत पर प्रसन्नता व्यक्त की, पर ज्योंही राष्ट्रीय स्तर पर खेलने की बात हुई तो उन्होंने तुम्हें इन्कार कर दिया; क्योंकि राष्ट्रीय स्तर पर भाग लेने में तुम्हारा अध्ययन का समय जाया होगा। तुम्हें समय बे-समय प्रेक्टिस को बुलाया जाएगा। तुम थके रहोगे तो पढ़ाई नहीं कर पाओगे, जिससे क्लास में पिछड़ जाओगे। अभी बोर्ड इम्तिहान सिर पर है। अब तुम्हीं बताओ ऐसे में इतना समय खेल को देना उचित है क्या?

तुम्हारे पास सबकुछ है - हितैषी माता-पिता हैं, बुद्धि है, बुद्धि के अनुसार काम करने की क्षमता व साधन भी हैं, फिर भी तुम इतने व्यथित क्यों हो? छोटी-छोटी बातें तो जीवन में होती रहती हैं। समझ नहीं आता तुम जैसा व्यक्ति अंदर से इतना कमजोर

भी हो सकता है? तुम इस समय जीवन के अमूल्य दौर से गुजर रहे हो। इस समय तुम्हें विवेकपूर्ण निर्णय की आवश्यकता है। अच्छा रहे कि तुम भीड़ से दूर रहो। नहीं, मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि तुम वन में वास करने लगो, अपितु यह है कि तुम जनसामान्य के कथनों से भ्रमित मत होओ, उन्हें अपने मनोमस्तिष्क में न बिठाओ। विकार! तुम अपने मन, वचन और काय – इन तीनों ही को इतना शक्तिशाली बनाओ कि तीनों के युद्धों में अपने रक्षाकवच तुम स्वयं बन सको। यदि तुम अपनी रक्षा के लिए अपने किसी अन्य साथी पर निर्भर हो, तो भी तुम कभी-न-कभी पराजय का मुँह देखोगे; क्योंकि स्वयं अपने आपके अलावा ऐसा कौन-सा व्यक्ति है, जो तुम्हारा रक्षाकवच बनकर हरसमय, हर अवस्था में तुम्हारे साथ रह सके?

यदि काय की रक्षा करने में स्वयं समर्थ नहीं हो तो, तुम कभी और कुछ खोते हो; यदि तुम वचन की रक्षा के लिए स्वाश्रित नहीं हो तो, तुम अक्सर और बहुत कुछ खोते हो पर यदि तुम मन की सुरक्षा के लिए भी पराश्रित हो तो, तुम प्रत्येक क्षण और सबकुछ खोते ही रहते हो; क्योंकि मन पर प्रहार तो प्रतिपल, प्रतिक्षण होते रहते हैं। जब मन प्रहारों से क्षत-विक्षत हो जाता है, तब ही वचन द्वारा प्रहार प्रारम्भ होते हैं और जब वचन भी अपने प्रहारों के प्रभाव में असफल हो जाते हैं, तो काय पर प्रहार होता है। वचन व काय से पीड़ित होने के लिए व करने के लिए एक से अधिक की आवश्यकता होती है, जबकि मन तो इस सबसे भिन्न है। वचन व काय पर तो दूसरों के द्वारा ही प्रहार होता है, पर मन पर तो हम स्वयं ही अपने विचारों द्वारा प्रहार करते रहते हैं, अनेकों कल्पनाएँ कर दु:खी होते रहते हैं।

उन्नति ऐसे कायर मानव का वरण कभी नहीं करती, जो अपनी ही रक्षा आप स्वयं नहीं कर सकता। अपनी रक्षा के लिए दूसरों पर मोहताज व्यक्ति के पास सुख फटकता भी नहीं है।

तुम अपने जीवन में कुछ ध्येय बनाओ और उसमें यदि तुम्हें सफलता हासिल करनी है तो इस समय व्यर्थ की बातों में अपना मन मत अटकाओ। सफलता के लिए उचित समय पर सही निर्णय करना भी आवश्यक है।

मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि अब तुम मन लगाकर परीक्षा की तैयारी करोगे और बोर्ड परीक्षा में प्रथम स्थान अवश्य प्राप्त करोगे।

शुभकामनाओं के साथ।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. २२ मार्च, १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने सही लिखा है – लोग दूसरों के द्वारा चोटें खाकर दुःखी होते हैं और मैं स्वयं को ही घायल कर स्वयं पीड़ित होता रहा हूँ। मेरा मन ही मेरा सबसे बड़ा दुश्मन था। जब मन दुर्भावनाओं से भरा हुआ हो, तो वचन मधुर कैसे हो सकते थे? मैं तो मन-वचन काय तीनों से ही रुग्ण था, तो भला मैं उन्नति कैसे कर सकता था।

देखो मित्र! दूसरों की उन्नति में हर कोई विघ्न डालते देखे जाते हैं, पर मैं तो अपने ही उत्कर्ष का शत्रु बन गया था। मैं रोग भी जानता था और रोग का कारण भी। रोग निवारण का उपाय भी जानता था और रोग निवारण न करने का परिणाम भी जानता था, फिर भी रोगनिवारण नहीं करता था; क्योंकि अपने आपको कृश करके, समाप्त करके अपनों को दुःखी देखना ही मेरे जीवन का ध्येय बन गया था।

ये भी जानता था कमजोर व्यक्ति का जगत् में कोई मूल्य नहीं और फिर जो तन से ही नहीं, मन से भी कमजोर हो गया हो; उसका जीना भी क्या जीना होता है? निरुत्साही और निरुद्देश्य जीवन किस काम का? महज खाने-पीने के लिए तो पशु भी जीते हैं। उपभोग्य वस्तुओं की प्राप्ति और उपभोग को ही जीवन का ध्येय बनाना तो वह ध्येय ही क्या रहा? क्योंकि यह बात तो सर्वसाधारण प्राणियों में भी पाई जाती है। मैं तो इससे भी गया-गुजरा था। मेरा उद्देश्य क्या था? अपने को कमजोर व दुःखी रखूँ, ताकि मेरे माता-पिता मुझे देख-देखकर दुःखी होते रहें?

वाह! वाह!! क्या कहने हैं मेरे मन के? जवाब नहीं इसका? कैसा कमजोर रास्ता अपनाया था मैंने? पर अब तुम्हारे पत्र से मेरी आँखें खुल गई हैं। भविष्य में मुझे क्या करना है। यह तो मैं बाद में निश्चित करूँगा। फिलहाल तो मुझे प्रथम स्थान प्राप्त करना ही है; अतः मैंने अपनी पढ़ाई जोर-शोर से प्रारम्भ कर दी है, क्योंकि मात्र लक्ष्य निर्धारण से कुछ नहीं होता है, अपितु उस पर अमल करने से ही सफलता मिलती है।

जब हम अपना कोई लक्ष्य बना लेते हैं, तभी से ही उसकी प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न प्रारम्भ कर देना चाहिए। हमें भाग्य, परिस्थिति, आदि किसी के भी सहयोग की वाँछा नहीं करनी चाहिए, अपितु अपने उद्देश्यों की पूर्ति स्वयं अपने बल पर ही करनी चाहिए।

यदि अपने उद्देश्यों को पाने के लिए पर के सहयोग की अपेक्षा रखी तो हमें असफलता ही मिलती है। मैं आज तक यही गलती करता रहा, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पर के सहयोग की वांछा करता रहा। अतः असफलता तो मिलनी ही थी। अपनी असफलता का दोष दूसरों पर थोप मैं निश्चिंत रहा। कभी अपनी ओर ध्यान दिया ही नहीं, अपनी शक्ति को पहिचाना ही नहीं। मानसिक अस्थिरता में ये सब संभव भी कैसे था? खैर, देर आयद, दुरुस्त आयद।

तुम्हें तो मालूम ही है कि मुझे सभी जिद्दी कहते हैं; क्योंकि मैं जिस वस्तु के पाने की सोच लेता हूँ, वह हासिल करके रहता हूँ। अब मेरी यही जिद्द थोड़े दिनों बाद दृढ़निश्चय कहलाने लगेगी; क्योंकि जिद्द और दृढ़निश्चय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब कोई व्यक्ति असफल हो जाता है तो उसके दृढ़निश्चय को जिद्द कह दिया जाता है, और जब किसी को सफलता मिल जाती है तो उसकी जिद्द को दृढ़निश्चय कहा जाता है। जिद्दी व हठी अलंकारों से अलंकृत अब मैं दो-चार माह बाद रिजल्ट आने पर दृढ़निश्चयी कहा जाने लगूँगा।

खैर, छोड़ो इन बातों को – ये सब तो भविष्य की बातें हैं। अभी तो तुम मुझे विकारों के बारे में विस्तार से लिखना। हमारे कौन से भाव विकारभाव हैं? ये आत्मा में उत्पन्न ही क्यों होते हैं। क्या इन्हें दूर भी किया जा सकता है?

अच्छा बताओ – जब से तुमने हिंसा के बारे में समझाया, तब से तो मैं चलता भी देख-देख कर ही हूँ। फ्लिट आदि हिंसादि कार्य भी घर में नहीं करने देता और तो और गुडनाइट आदि का भी हम प्रयोग नहीं करते हैं।

पत्र शीघ्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १५ अप्रेल, १९९३ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे दृढ़निश्चयी विचारों को जानकर प्रसन्नता हुई। अब तुम निश्चय ही अपने उद्देश्य में सफलता हासिल करोगे; क्योंकि इस संसार में वही व्यक्ति अपने कार्य में सफल होते हैं, जो अपनी परिस्थितियों को अनुकूल बना लेते हैं और यदि वे बना नहीं सकते तो स्वयं को परिस्थितियों के अनुकूल बना लेते हैं। तुम्हारे में आत्मविश्वास जग गया है और यह विश्वास ही हमें वह मार्ग बताता है जो हमें अपनी मंजिल पर पहुँचा देता है।

तुमने विकारों के बारे में पूछा। तो यहाँ मैं संक्षेप में तुम्हें बताता हूँ, विस्तार से जानने की जिज्ञासा हो तो शास्त्रों में पढ़ना।

मोह-राग-द्वेष और कषायें आत्मा की विकारी पर्यायें हैं। ये आत्मा के स्वभाव के विपरीत हैं, अत: विभाव हैं, हेय हैं।

ममत्व परिणाम मोह है। जब हम किसी को भला जानकर चाहने लगते हैं, तो उसे राग कहते हैं और जब हम किसी को बुरा जानकर दूर करना चाहते हैं, तो उसे द्वेष कहते हैं। इन सब भावों से तो हम अच्छी तरह परिचित ही हैं।

और कषायें! कषायों के तो हम भंडार ही हैं। कभी कषाय के वश हो हम दूसरों को मारने लगते हैं, तो कभी स्वयं को ही मार डालते हैं। जब कोई व्यक्ति सशक्त होता है, बलवान होता है तो क्रोधावेश में दूसरों का अहित करता है, उसे दु:ख देता है; यहाँ तक कि जान से मारने में भी नहीं हिचकिचाता और जब किसी निर्बल अशक्त व्यक्ति को क्रोध का आवेग आता है तो वह स्वयं को ही सताता है, मारता है, दु:ख देता है; यहाँ तक कि अपने आप को समाप्त भी कर लेता है। हत्या व आत्महत्या जैसे पाप क्रोध के तीव्र आवेग में ही होते हैं। यह क्रोध पहले नम्बर की कषाय है। नरकगति में इस कषाय की प्रधानता रहती है।

कषायों में दूसरा नम्बर आता है मान का। मान में व्यक्ति दूसरों को समाप्त नहीं करना चाहता है, अपितु उसे बनाए रखना चाहता है, किन्तु अपने से थोड़ा छोटा – अपने से हीन। दशानन रावण में मान की ही तो प्रधानता थी। वह स्वपति में आसक्त सीता को वापिस करना चाहता था, पर राम को युद्ध में जीतकर, समझौते से नहीं; क्योंकि इससे उसका मान खण्डित होता था, उसके मानी मन को ठेस पहुँचती थी। उस मानी दशानन की आज तक क्या दुर्दशा होती है, उससे तो तुम परिचित ही हो। मनुष्य गति में इसी कषाय की प्रधानता रहती है।

मायाचार अर्थात् छल-कपट तो हम हर समय करते ही रहते हैं। इसे तो तुम अच्छी तरह समझते ही होंगे। हमारे मन में कुछ और होता है, हम कहते कुछ और ही हैं और करते उससे भी अलग हैं। तिर्यञ्च गति में इस कषाय की प्रधानता रहती है और मनुष्य गति में यह नारियों में पुरुष की अपेक्षा अधिक पाई जाती है; क्योंकि नारियाँ पुरुषों की अपेक्षा कमजोर होती है।

चौथी और अन्तिम कषाय है लोभ। लोभ के वशीभूत होकर ही जीव पाँचों पाप करता है। यह पाप का बाप है। लोभी जीव हमेशा हर चीज की प्राप्ति की कामना करता रहता है। चमड़ी जाए पर दमड़ी न जाए वाली कहावत लोभी व्यक्ति के लिए ही प्रसिद्ध है। चारों गतियों में से देव गति में यह प्रधानता से पाई जाती है।

यद्यपि चारों कषायें चारों ही गतियों में पाई जाती हैं, पर प्रचुरता की अपेक्षा यहाँ बात कही है।

किसी विचारक ने कहा भी है कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया नेकी का नाश करती है और लोभ सबका नाश करता है।

इसप्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ – ये चार कषायें हैं। जो आत्मा को कसे अर्थात् दु:ख दे उसे ही कषाय कहते हैं। वैसे तो कषायें पच्चीस होती

हैं। पर छोटे से पत्र में उनकी चर्चा संभव नहीं है और विषय भी कठिन हो जायेगा।

ज्यों-ज्यों हम मोक्षमार्ग पर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों कषायों का अभाव होता जाता है; पर संसार में कोई भी नि:कषायी नहीं हो सकता। मोक्षपथ पर चलने वाले अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक के अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी का अभाव होता है, देशव्रती के दो कषाय चौकड़ी का व आत्मध्यानी महाव्रती मुनिराजों के तीन कषाय चौकड़ी का अभाव होता है। पूर्णत: नि:कषायी तो अरहंत व सिद्ध भगवान ही हैं।

मुख्यतया मिथ्यात्व के कारण जब परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होते हैं, तब कषायें उत्पन्न होती हैं और तत्वज्ञान के अभ्यास से जब पर पदार्थ इष्ट और अनिष्ट भासित नहीं होते तो मुख्यतया कषायें भी उत्पन्न नहीं होंती।

उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। संसाररूपी वृक्ष की जड़ यही है। जिसप्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर वृक्ष समाप्त हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड़ के समाप्त हो जाने पर संसाररूपी वृक्ष भी अधिक काल तक नहीं रहता है।

शेष कुशलता है। पत्र देना। तुम्हारा रिजल्ट आने वाला होगा। रिजल्ट आते ही सूचना देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १० मई, १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने कषायों के बारे में विस्तार से नहीं लिखा; पर दोस्त अभी हमने दसवीं की परीक्षा दे दी है। हमें स्कूल के इतने कठिन विषय, इतनी बड़ी-बड़ी बातें समझ में आ जाती हैं तो फिर धर्म की बातें समझ में क्यों नहीं आएंगी? जब आठ वर्ष के बालक को सम्यग्दर्शन हो सकता है, तो फिर हम तो सोलह साल के हो गए हैं।

सुना है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने तो ग्यारह वर्ष की उम्र में ही दीक्षा ले ली थी, तो फिर हमें क्यों नहीं समझ आएंगी अपनी ही बातें – अपने आत्मा की बातें?

तुम्हारे ही शब्दों में कषायों के तो हम भंडार हैं, तो फिर कषायें तो हमें जल्दी ही समझ में आ जाएंगी। तुम तो विषय निःसंकोच होकर लिखा करो। यदि कुछ विषय कठिन लगेंगे तो वे भी अभ्यास से सरल हो जाएंगे। जिसप्रकार काम-भोग-बंध की कथा तो हमने अनेकों बार पढ़ी है, सुनी है; अतः अनादि के अभ्यास के कारण वह सरल हो गई है। इसीप्रकार पर से विभक्त भगवान आत्मा की बात भी हम बार-बार पढ़ेंगे, तो वह भी सरल हो जाएगी।

तुमने अपने पत्र में बार-बार कषाय चौकड़ी का जिक्र किया है। यह दो कषाय चौकड़ी, तीन कषाय चौकड़ी क्या होती है? जरा स्पष्ट करना।

आजकल मेरी छुट्टियाँ बहुत मौज-मस्ती में गुजर रही हैं। मम्मी-पापा और दीदी के साथ मिलकर बातें करने में, खेलने में बड़ा मजा आता है। इतने दिनों में अपने ही अविश्वास के कारण मम्मी-पापा व दीदी से खिंचा-खिंचा रहता था। सच दोस्त! इस अविश्वास का जरा-सा कण भी अच्छा नहीं; क्योंकि जहाँ भी, जिससमय भी यह पनपा; वहीं उसीसमय यह विष घोल देता है, अपना बीज छोड़ जाता है; जो जरा-सी असावधानी पर पुनः पनपने लगता है।

यह अविश्वास उस अमरबेल के समान है, जो गलतफहमियों से पनपता है और जिसके सहारे बढ़ता है, उसे ही धीरे-धीरे सोखता चला जाता है एवं अपने आश्रयदाता के ही जीवन को नर्क बना देता है।

यह अविश्वास बिना कारण के ही पैदा हो जाता है, बिना बात ही बढ़ता रहता है और बिना जड़ के ही फलता-फूलता रहता है। सोचिए! इसके दूर करने का उपाय कितना कठिन होगा? क्योंकि किसी कार्य को समाप्त करने के लिए उसके कारण को खोजा जाता है, उसकी जड़ को देखा जाता है। पर जिसकी जड़ ही न हो, उसे कैसे समाप्त किया जाए? यह अविश्वासरूपी बेल पैदा होते समय, बढ़ते समय दिखाई ही नहीं देती अथवा देती भी है तो बहुत सूक्ष्मरूप से, जिस पर किसी का ही ध्यान जाता है। पर जब यह बढ़ जाती है तो अपनी विध्वंस लीला के साथ दिखाई देती है। मुझे तो समय रहते तुमने संभाल लिया, वरना ...../

अगले माह के अन्तिम सप्ताह में शायद रिजल्ट आ जाए। अब तुम क्या विषय लेने वाले हो लिखना। मेरी तो किसी खास विषय में रुचि नहीं है; पर मेरे मम्मी-पापा मुझे डॉक्टर बनाना चाहते हैं। अतः उन्हीं की इच्छानुसार मैं बॉयलोजी लेने की सोच रहा हूँ। डाक्टर बनकर मैं अनेकों प्राणियों को मौत के मुँह से बचाऊँ, अनेकों के कष्टों का मैं निवारण करूँ – ऐसी मेरी भी भावना होने लगी है। मेरा जीवन, मेरी बुद्धि व समय का सदुपयोग दूसरों के जीवन संवारने में हो तो मैं अपने जीवन को सार्थक समझूँगा और डॉक्टर बनकर मैं यह सब कर सकता हूँ। तुम्हारी क्या राय है? लिखना।

पत्र शीघ्र देना। पत्र की प्रतीक्षा में

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. २ जून, १९९३ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। बड़ी-बड़ी बातें लिखी हैं। लगता है आजकल तुमने समयसार का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है। छुट्टियों का इससे अच्छा सदुपयोग नहीं हो सकता था। पढ़ाई का बोझ न होने से फ्री माइंड में जितना अच्छा स्वाध्याय तुम अभी कर सकोगे, उतना बाद में नहीं। तुम्हारे जानने की तीव्र रुचि और अध्ययन का विषय देखते हुए मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। यदि इस शास्त्र का मर्म तुमने समझ लिया तो, समझलो संसार से पार होने का मार्ग तुमने पा लिया।

अविश्वास के बारे में तुमने सही लिखा है। यह अविश्वास ही क्लेश-कलह की जननी है। अविश्वास मनुष्य की प्रवृत्तियों को जितना बिगाड़ता है, विश्वास उतना ही बनाता है। अविश्वास के ही कारण बड़े-बड़े घर नष्ट होते देखे जाते हैं, बड़ी-बड़ी संस्थाओं का भी पतन हो जाता है। अविश्वास चाहे दो व्यक्तियों में पनपे या दो परिवार, समाज या देश में; पर जहाँ यह उत्पन्न हुआ; वहाँ से प्रेम, शान्ति आदि गुण उसी तरह भाग जाते हैं जैसे कि सूर्य के उदित होते ही अंधकार या पुलिस के आते ही चोर।

विश्वास एक ऐसी चीज है कि जिसके द्वारा गिरते आदमी को उठाया जा सकता है और अविश्वास के द्वारा जमे-जमाए व्यक्ति को भी आसानी से गिराया जा सकता है। इस अविश्वास की महिमा के जितने गुण गाए जाएँ, कम ही हैं। इसके द्वारा पतन के एक नहीं, हजारों उदाहरण प्रतिदिन हमारे सामने घटित होते रहते हैं।

कषायों के बारे में तुमने विस्तार से जानने की जिज्ञासा व्यक्त की है। देखो मित्र! ये तो मैं तुम्हें लिख ही चुका हूँ कि कषायें पच्चीस होती हैं। वे निम्नानुसार हैं-

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ - इसप्रकार १६ कषायें तो ये हुईं

तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद - ये नौ नोकषाय हैं।

इसप्रकार कुल मिलाकर २५ कषायें होती हैं। ये पच्चीसों कषायें राग-द्वेष में गर्भित हैं। इनमें चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा ये - बारह कषायें द्वेष हैं और चार प्रकार की माया, चार प्रकार का लोभ, तीन प्रकार के वेद, रति एवं हास्य - ये तेरह कषाएँ राग हैं।

चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव होता है, पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव होता है तथा छठवें गुणस्थान में तीन कषाय चौकड़ी अर्थात् अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव हो जाता है।

अनन्त संसार को बढ़ाने वाली होने से अनन्तानुबंधी सबसे अधिक खतरनाक कषाय है। इसकी अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण कषाय कम खतरनाक कषाय है, पर है तो खतरनाक ही; क्योंकि यह रंचमात्र भी संयम नहीं होने देती। इसकी उपस्थिति में देशचारित्र भी नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण इससे भी कम खतरनाक कषाय है; क्योंकि इसके रहते हुये देशसंयम तो हो सकता है, पर यह सकल संयम नहीं होने देती है। तथा संज्वलन कषाय कषाय का वह ज्वलनशील टिमटिमाता रूप है, जो यथाख्यात चारित्र नहीं होने देता। यह कषाय दसवें गुणस्थान तक रहती है।

तुमने अपने माता-पिता की इच्छानुसार बॉयलोजी लेकर डॉक्टर बनने का विचार किया है तो इसके बारे में मैं तुम्हें क्या लिखूँ? पर जो तुम यह लिखते हो कि इससे तुम दूसरे जीवों को मृत्यु से बचा सकोगे, उनके दु:ख दूर कर सकोगे - यह सही नहीं है; क्योंकि सांसारिक सुख व दु:ख तो अपने पूर्वकृत पुण्य एवं पाप के अनुसार होते हैं। यदि पाप का उदय हो तो किसी भी जीव के दु:खों को, दर्दों को कोई भी दूर नहीं कर सकता और पुण्य का उदय हो तो कोई दु:खी नहीं कर सकता है। इसीप्रकार प्रत्येक प्राणी की मृत्यु भी अवश्यम्भावी है। वह तो अपने नियत समय पर होती ही है, उससे न तो बचा जा सकता है, न ही टाला जा सकता है। फिर हमारे सुख-दु:ख, जीवन-मरण सब कुछ निश्चित हैं, ये सब स्वकाल में ही होते हैं। फिर तुम दूसरों के दु:खों व दर्दों को दूर जब करोगे, तब करोगे; पर डॉक्टर बनने की प्रक्रिया

ऐसी है, जिसमें पहले तो तुम्हें मूक प्राणियों को दु:ख देने होंगे, कष्ट देने होंगे। मेंढ़कों को काटना होगा, चीरना होगा। क्या तुम यह सब कर सकोगे?

जब तुम प्राणी वध रूपी कोई भी हिंसक कार्य नहीं करते। मच्छरों व क्रॉकोरोचों को भी मरते नहीं देख सकते तो क्या तुम जिंदा जानवरों पर प्रेक्टीकल्स कर सकोगे?

देखो मित्र! तुम भावुकता में बहकर जल्दबाजी में कोई निर्णय नहीं लेना। कोई भी निर्णय करने से पहले नतीजे पर अच्छी तरह विचार कर लेना चाहिए; क्योंकि जल्दबाजी व भावुकता में किए गए निर्णयों का नतीजा मरते वक्त तक हृदय को तीर की तरह छेदता रहता है। हमें अपने जीवन में किसी बात का निर्णय बहुत सावधानीपूर्वक करना चाहिए; क्योंकि हम नहीं जान पाते कि हमारा आज का छोटा-सा निर्णय भविष्य में क्या रंग लाएगा। निर्णय लेते समय हमारी दृष्टि विस्तृत नहीं हो पाती। प्राय: हम किसी भावना में बहकर निर्णय कर बैठते हैं, जो हमें जीवन भर सताते रहते हैं। कभी हम जीवन के उद्देश्य के बारे में उदासीन रूप से प्रवर्तित होते हैं व जबतक संभलते हैं, तबतक हमारा जीवन बलिदान हो चुका होता है, हम खो चुके होते हैं अपने अमूल्य समय को। अभी किया गया निर्णय हमारे पूरे जीवन की आधारशिला बन जाएगा। अत: इस समय तुम्हें गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

विशेष क्या। समझदार को इशारा काफी है। तुम स्वयं समझदार हो। अपने बारे में तुम अपनी रुचि के अनुकूल निर्णय करो। मैं तो जैनदर्शन के शास्त्रों का गहन अध्ययन करना चाहता हूँ। अत: संस्कृत ले रहा हूँ; क्योंकि प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत व संस्कृत में ही हैं। तथा विभिन्न दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन कर सकूँ, इसलिए दर्शनशास्त्र ले रहा हूँ। तीसरे विषय में अंग्रेजी या हिन्दी में से एक को चुनूंगा।

शेष कुशलता है। अब तो तुम्हारा रिजल्ट आने वाला होगा, मुझे तुम्हारा रिजल्ट जानने को बहुत उत्सुकता है। अत: पत्र शीघ्रातिशीघ्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १५ जुलाई, १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। मैंने किसी भी 'सार' का अध्ययन नहीं किया है। हमारी उम्र अभी मौज-मस्ती की है, अध्ययन-मनन की नहीं। साल भर तो पढ़ाई का भूत सवार रहता ही है, फिर छुट्टियों में भी पढ़ाई करके हमें अपनी छुट्टियाँ बर्बाद नहीं करनी हैं। जो दो-चार वाक्य तुम्हें लिखे थे, वे तो सुने-सुनाए थे। हुआ यों कि यहाँ मई में मन्दिर में शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर लगा था। मैं भी दोस्तों के साथ वहाँ एक-दो बार तफरी करने गया तो चलते-फिरते दो-चार वाक्य मेरे कानों में पड़ गए और अच्छे लगे सो तुम्हें लिख दिए, पर उन वाक्यों में ऐसा तो कुछ नहीं था कि तुम मेरे प्रशंसा के पुल बांधने लगे। सच बताऊँ मित्र, मुझे तो उन वाक्यों का सही-सही अर्थ भी मालूम नहीं। 'काम-भोग-बंध की कथा' क्या है? 'पर से विभक्त भगवान आत्मा' किस चिड़िया का नाम है? मैं तो इतना जानता हूँ कि हमारे शरीर के अन्दर कुछ ऐसा है, जिसे आत्मा कहते हैं। मरने के बाद हमारा शरीर यहीं रह जाता है व आत्मा कहीं चला जाता है। पर हमारा यह आत्मा 'भगवान' कैसे हो गया? भगवान तो महावीर थे, आदिनाथ थे। आत्मा भी भगवान होता है, यह तो मैंने नई बात सुनी है।

कषायों को समझाते हुए तुमने गुणस्थानों की चर्चा की है। गुणस्थान किसे कहते हैं, वे कितने होते हैं? – आदि समझाना।

तुमने अपने पत्र में लिखा कि लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण – सब-कुछ निश्चित हैं। ये सब स्वकाल में ही होते हैं, तो फिर परिश्रम, मेहनत नाम की तो कोई चीज ही नहीं रही। फिर बीमारी दूर करने के लिए दवाइयों व डाक्टर की क्या जरूरत? वह तो स्वकाल में अपने आप दूर हो ही जाएगी। व्यापार आदि कार्यों में उन्नति के लिए श्रम की क्या आवश्यकता, वह भी स्वकाल में होगी ही।

'सब कुछ निश्चित है' – ऐसा मानने पर अनेकों विसंगतियाँ पैदा हो जाएंगी। जब सब-कुछ निश्चित है, उसमें फेरबदल संभव नहीं, तो फिर पुरुषार्थ की क्या जरूरत? फिर जब हम पर का कुछ कर ही नहीं सकते, तो हमारी स्वतंत्रता ही क्या रही? नहीं, नहीं; सब-कुछ निश्चित नहीं हो सकता? हम दवाई खाते हैं तो ठीक होते हैं? मेहनत करते हैं तो सफल होते हैं, नहीं करते तो असफल – यह सब हम दिन-रात देखते रहते हैं। फिर प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या जरूरत? कहा भी है – 'हाथ कंगन को आरसी क्या?'

मेरा रिजल्ट आ गया है। तुम्हें क्या लिखूँ व कैसे लिखूँ? यह समझ लो मैं अपनी ही नजरों में फेल हो गया हूँ। पिछले पत्र में जिस सफलता की चाह मैंने की थी, वह मुझे नहीं मिली। मात्र कुछ पाइंट से मेरा प्रथम स्थान रह गया है। लगता है मेरा मान खंडित करने को ही भगवान ने ऐसा किया है। ठीक ही कहा है कि "अंत में मानी का सिर नीचा ही होता है।"

अपनी इस असफल सफलता पर मैं हँसू या रोऊँ – कुछ समझ नहीं आ रहा। मैं तो प्रथम स्थान पाना चाहता था, पर द्वितीय रह गया। 'द्वितीय, द्वितीय' इस शब्द से ही मुझे नफरत-सी हो गई है। हर जगह हर क्षेत्र में यही मिलता है मुझे। कभी कुछ तो कभी कुछ – किसी न किसी वजह से प्रथम स्थान रह ही जाता है। क्या मैं प्रथम के लायक ही नहीं? आखिर मुझे द्वितीय स्थान ही क्यों मिलता है? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

जब पेपर देकर आया था तो मैं कितना प्रसन्न था, जानता था प्रथम स्थान मुझे ही मिलेगा पर रिजल्ट द्वितीय, द्वितीय, द्वितीय – यह शब्द हथौड़े की तरह चोट करता है – मेरे मनोमस्तिष्क पर। नहीं, मुझे नहीं चाहिए यह द्वितीय स्थान।

खैर छोड़ो इन बातों को। मेरी मनःस्थिति से अपरिचित मेरे माता-पिता व दीदी को प्रसन्नता का पारावार नहीं है; क्योंकि उन्हें तो मुझसे ऐसी उम्मीद ही नहीं थी। मेरी इस सफलता के उपलक्ष्य में वे पार्टी दे रहे हैं, तुम भी उसमें अवश्य आना।

तुम्हारे द्वारा लिखे सभी पहलुओं पर गौर कर व बहुत सोच-विचार कर मैंने साइंस-मैथ्स ले लिया है। अब मैं शोध-खोज कर कुछ नया काम करना चाहता हूँ। कुछ ऐसा जो लौकिक व धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से लाभदायक हो। किस विषय पर शोध करूँगा – यह अभी कुछ निश्चित नहीं किया है। उसे सोचने के लिए अभी काफी समय भी है। पर इतना निश्चित है कि अब मैं डॉक्टर बनूँगा; पर मलहम का नहीं, कलम का बनूँगा।

तुम्हारा भी रिजल्ट आ गया होगा। तुमने तो प्रथम स्थान ही प्राप्त किया होगा। अब तुम्हारे पत्र की नहीं, तुम्हारे आने की प्रतीक्षा में –

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १० अगस्त, १९९३ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने तो इस पत्र में प्रश्नों की झड़ी लगा दी। तुम्हारा प्रत्येक प्रश्न एक-एक पत्र की अपेक्षा रखता है, फिर भी इस पत्र में संक्षेप में कहने का प्रयास करूँगा।

दोस्त, अध्ययन के लिए कोई उम्र का बंधन नहीं होता। फिर तुम अपनी जिस उम्र को मौज-मस्ती की कह रहे हो, वही वास्तव में अध्ययन की उम्र है। इस उम्र में हमें कोई टेन्शन नहीं, कोई जिम्मेवारी नहीं; बंधन नहीं। अत: निश्चिन्त होकर जितना गहरा अध्ययन हम अभी कर सकते हैं, बाद में नहीं। समय की बर्बादी अध्ययन-मनन में नहीं, घूमने-फिरने में होती है। तुम्हीं बताओ घूमने-फिरने से तुम्हें क्या हासिल होगा? चंद समय का सुख, जो वास्तविक सुख है ही नहीं। पर अध्ययन-मनन से ज्ञान मिलता है और ज्ञान ही वह सीढ़ी है, जिस पर चढ़कर सच्चा-सुख प्राप्त किया जा सकता है।

मित्र, मन्दिर में तफरी करने नहीं जाते, अपितु सुख व शान्ति की खोज में जाते हैं। जिसप्रकार हम स्कूल जाते हैं तो अलग ड्रेस पहनते हैं, बाजार के लिए अलग व पार्टी के लिए अलग। उसीप्रकार मन्दिर की भी एक ड्रेस होती है। मन्दिर में जाने, दर्शन करने की एक विधि है, वहाँ हमें वैसे ही जाना चाहिए, वैसा ही आचरण करना चाहिए।

तुमने आत्मा के बारे में इस तरह की बातें लिखी हैं मानों तुम कोई और हो और आत्मा तुम्हारा कोई दूर का रिश्तेदार हो। दोस्त मेरे! 'भगवान आत्मा' किसी चिड़िया का नाम नहीं, अपितु हम-तुम सभी आत्मा ही हैं। यह शरीर हमारा नहीं, न ही हम शरीर ही हैं। यह शरीर तो पर है, पुद्गल है, अजीव है और हम जीव हैं। इस शरीर के अन्दर रहने वाला, जानने-देखने वाला, सुख-दु:ख का अनुभव करने वाला जो आत्मा है, वही हम हैं। मरने के बाद आत्मा अन्य शरीर धारण कर लेता है और यह शरीर यहीं रह जाता है। सिर्फ

हमारा-तुम्हारा ही नहीं, अपितु प्रत्येक प्राणी का शरीर अजीव है व उसमें रहने वाला आत्मा जीव है।

आत्मा को 'भगवान आत्मा' द्रव्यदृष्टि (स्वभावदृष्टि) से कहा गया है। जिसप्रकार भगवान शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हैं; उसीप्रकार आत्मा भी स्वभाव से शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हैं; किन्तु उसकी पर्याय में अभी विकार है, अशुद्धता है, मलिनता है; अत: द्रव्यदृष्टि से आत्मा को 'भगवान आत्मा' कहा है।

मोह-राग-द्वेष के कारण आत्मा की पर्याय में विकार, अशुद्धता और मलिनता होती है। इन मोहादि व मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अन्तरंग परिणामों में प्रतिक्षण उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। इन उतार-चढ़ाव का नाम ही गुणस्थान है। परिणाम यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट वीतराग परिणमन तक की अनन्त वृद्धियों के क्रम को इन गुणस्थानों में विभक्त किया है। 'गुण' अर्थात् आत्मा की स्वाभाविक शक्ति और स्थान अर्थात् उन शक्तियों की तरतमतवाली अवस्थाएं। आत्मा के सहज गुणों पर चढ़े हुए आवरण ज्यों-ज्यों कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों गुण अपने शुद्धस्वरूप में प्रगट होते जाते हैं। शुद्धस्वरूप की प्रकटता की न्यूनाधिकता ही गुणस्थान कहलाती है। ये गुणस्थान १४ होते हैं। इनमें चौथे गुणस्थान तक दर्शन मोह की तथा इससे ऊपर चरित्र मोह की अपेक्षा प्रधान है।

इस पत्र में विशेष विस्तार से लिखना संभव नहीं। अत: यदि इसके बारे में तुम्हें विशेष जानने की जिज्ञासा हो तो गोम्मटसार जीवकाण्ड नामक ग्रन्थ पढ़ना।

तुम्हारा रिजल्ट जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। तुम्हारी पार्टी में उपस्थित न होने का मुझे खेद है। मैं चाहकर भी इस समय वहाँ नहीं आ सकता; क्योंकि मेरा भी पिछले माह रिजल्ट आ गया है और अब कॉलेज में पढ़ाई भी प्रारम्भ हो गई है। अत: व्यस्तता अधिक हो गई है, पर तुम पार्टी के फोटो अवश्य भेजना।

मेरे रिजल्ट ने तुम्हारी वाणी का अनुसरण किया है। समझ गए न? नहीं समझे, अरे बाबा मैंने बोर्ड में प्रथम स्थान प्राप्त किया है, पर यह प्रथम स्थान

प्राप्त करना भी मुझे मुसीबत बन गया है। अब सभी मुझे मेरे मनपसन्द विषय लेने से रोक रहे हैं। वे कहते हैं कि इतने बुद्धिमान होते हुए भी तुम आर्ट्स क्यों ले रहे हो? एक तो आर्ट्स और आर्ट्स में भी संस्कृत! बाप रे बाप! तुम्हें तो अच्छी लाइन पकड़नी चाहिए। टॉप करके भी तुम इस घिसे-पिटे सब्जेक्ट को क्यों लेना चाहते हो? जिन्हें कहीं एडमीशन नहीं मिलता, वे ऐसे विषय लेते हैं। ..... आदि-आदि न जाने कितनी बातें करते हैं। मुझे तो समझ नहीं आ रहा। जिस भाषा को हमारे ऋषिगण बोलते थे, जिसमें ही हमारे सभी धार्मिक ग्रंथ लिखे गये हैं, जो सभी भाषाओं की जननी है; वह घिसी-पिटी कैसे हो गई? मैं समझ नहीं पा रहा कि लोग आर्ट्स को हीन क्यों समझते हैं? पता नहीं आजकल सोच ही कैसी उल्टी हो गई है। आश्चर्य तो मुझे तब हुआ, जबकि कॉलेज के लेक्चरार भी मुझे यही सलाह देने लगे।

मैं तो मानता हूँ कि कोई विषय छोटा-बड़ा नहीं। हर क्षेत्र का, विषय का अपना महत्व है। किसी भी क्षेत्र में सफलता के लिए बुद्धिमानी आवश्यक है। कोई कुछ भी कहे पर मैं तो "सुनना सबकी करना मन की" - इस उक्ति के अनुसार अपने निश्चय पर दृढ़ हूँ; क्योंकि मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि रुचि के अनुसार कार्य करने से ही सफलता हासिल होती है। वैसे भी आजकल जमाना टॉपर्स का है। मैं असफल डॉक्टर या इंजीनियर बनूँ; इससे अच्छा है कि सफल संस्कृतज्ञ बनूँ, विद्वान बनूँ।

देखा, मैं प्रथम स्थान प्राप्त कर दुःखी हूँ, तुम द्वितीय पाकर। बस इसी उदाहरण से समझ लो संसार में दुःख ही दुःख हैं, सुख कहीं नहीं। जिसकी प्राप्ति हमारा ध्येय थी, जिसे पाने के लिए हमने दिन-रात एक कर दिए। अपना सम्पूर्ण समय, बुद्धि, शक्ति जिसकी प्राप्ति के लिए अर्पण कर दी, उसी के हासिल होने पर हम कितने दुःखी हो रहे हैं। वजह कुछ भी रही हो, पर हैं तो हम दुःखी ही, अप्रसन्न ही। सच ही कहा है - प्रसन्नता-अप्रसन्नता, सुख-दुःख वस्तु में नहीं, हमारे सोचने में हैं। यही सब हमारे साथ घट रहा है। देखा उसी प्रथम व द्वितीय स्थान को प्राप्त कर हम दोनों दुःखी हो रहे हैं और उसी

कारण हमारे माता-पिता प्रसन्न हो रहे हैं। वे क्यों प्रसन्न न हो? जब बोर्ड में १०वाँ या २०वाँ स्थान प्राप्त करना भी गौरव की बात है तो फिर हमारे प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने पर वे प्रसन्न हैं तो आश्चर्य क्या? पर तुम प्रथम स्थान चाहते थे, अत: द्वितीय मिलने पर तुम्हें दु:ख है और मैं प्रथम स्थान मिलने पर भी दु:खी ही हूँ; क्योंकि यह मेरे मार्ग में बाधा डाल रहा है। इसलिए तो कहा है कि संसार में सुख है ही नहीं।

मुझे तो अपने भविष्य की निश्चितता पर पूरा भरोसा है; अत: मैं निश्चिन्त हूँ। जो होना होता है, वह होकर ही रहता है। उसमें हम तुम तो क्या भगवान भी कुछ नहीं कर सकते। तुम्हारा मान खंडित करने में भी भगवान ने कुछ नहीं किया है; क्योंकि कुछ करने का विकल्प राग-द्वेष से होता है और वे तो वीतरागी हैं। वे न किसी का अच्छा करते हैं, न बुरा; वे तो मात्र जानते-देखते हैं। वे कुछ करते नहीं है – ऐसी बात नहीं है; सच तो यह है कि वे पर में कुछ कर ही नहीं सकते। जैनदर्शन तो अकर्तावादी दर्शन है। उसके अनुसार एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में कुछ फेरफार नहीं कर सकता। जिस द्रव्य में जो पर्याय होती है, वह उसकी स्वयं की योग्यता से निश्चित निमित्त व निश्चित पुरुषार्थपूर्वक निश्चित काल में ही होती है। इसप्रकार हम देखते हैं कि कोई भी कार्य होने में पाँच कारण होते हैं – स्वभाव, काललब्धि, निमित्त, होनहार, और पुरुषार्थ। इसमें पुरुषार्थ को विशिष्ट स्थान प्राप्त है; क्योंकि प्रयत्न उसी के संदर्भ में संभव है, भवितव्य, काललब्धि आदि में नहीं। उदाहरण के तौर पर यह निश्चित है कि ट्रेन पटरी पर चलती है, बस सड़क पर और हवाईजहाज आसमान में उड़ता है। इस पर कोई कहे कि जब ट्रेन पटरी पर चलती है तो फिर इसके लिए ड्राइवर व इंजन की क्या जरूरत? तो तुम्हें हँसी आएगी या नहीं? तुम कहोगे कि अरे भाई ट्रेन पटरी पर अवश्य चलती है, पर अपने आप नहीं। उसके लिए अनेक कारण चाहिए। एक ड्राइवर, गार्ड, ईंधन और पटरी – ये सब होने पर भी वह अपने नियत समय पर ही चलेगी। इसीप्रकार एक कार्य होने के लिए भी अनेक कारण चाहिए। जब सभी कारण मिल जाते हैं

तो कार्य हो जाता है अथवा जब कार्य होना होता है तो ये सभी कारण भी होते ही हैं।

'सब कुछ निश्चित है' – ऐसा मानने में कहीं स्वतंत्रता खंडित नहीं होती, न ही पुरुषार्थ का अभाव होता है। अच्छा तुम्हीं बताओ – तुम यह मानते हो कि नहीं कि सोमवार के बाद मंगलवार आएगा फिर बुधवार, जनवरी के बाद फरवरी, फरवरी के बाद मार्च। मानते हो न। फिर क्या ऐसा मानने से तुम्हारे पुरुषार्थ में कुछ फर्क पड़ा, तुम्हारी स्वतंत्रता खंडित हुई? नहीं न। अथवा तुम ट्रेन से सफर कर रहे हो तो तुम्हें ज्ञात है कि ट्रेन इस निश्चित समय पर चलेगी, इन-इन स्टेशनों पर होती हुई, अमुक समय गन्तव्य पर पहुँचेगी – यह सब निश्चित होने पर भी क्या तुम्हें परतंत्रता का अहसास होता है, पुरुषार्थ की हानि लगती है। नहीं; बल्कि ट्रेन का सब-कुछ निश्चित है – यह जानकर हम निर्भय होकर रातभर आराम से सोते हैं; क्योंकि तुम समय से पहले गन्तव्य पर नहीं पहुँच सकते। अत: हमें इसमें कहीं भी परतंत्रता महसूस नहीं होती; बल्कि निर्भयता आती है।

इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय की निश्चितता मानने पर भी अनन्त निर्भयता आती है और कर्तृत्व के अहंकार की अनन्त आकुलता समाप्त हो जाती है; पर जिसप्रकार बच्चे ट्रेन को धक्का मार कर चलाने की अनन्त आकुलता से ग्रस्त रहते हैं; उसीप्रकार अज्ञानी पर्याय में फेरफार की कर्तृत्वबुद्धि के कारण अनन्त दु:खी होते रहते हैं और क्रमनियमित सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले ज्ञानी निराकुल होकर आत्मध्यान रूपी कार्य करते रहते हैं। संक्षेप में तुम्हें क्रमनियमित सिद्धान्त के बारे में लिखा।

यदि विस्तार से जानने की जिज्ञासा हो तो डॉ. भारिल्ल की क्रमबद्धपर्याय नामक पुस्तक को पढ़ना।

पत्र लम्बा हो गया है, शेष फिर।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १० सितम्बर १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने सही ही लिखा है टॉपर्स की परेशानियों के बारे में। जिसप्रकार धन नहीं, धन की प्रसिद्धि चोरों को आमंत्रित करने का हेतु होती है; उसीप्रकार ज्ञान नहीं, अपितु ज्ञान का प्रमाण-पत्र हमारी अनेक दुविधाओं का सूत्रधार होता है। ज्ञान द्वारा जिस कार्य को हेय समझकर हम छोड़ना चाहते हैं, जिससे दूर रहना चाहते हैं; ज्ञान का प्रमाण-पत्र मिलने पर प्रायः हमें वही कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है। कुछ माहों से मैंने सबसे मिलना-जुलना बंद कर रखा था, बस दिन-रात पढ़ाई-पढ़ाई; पर अब सबके पास बैठो, बात करो; नहीं तो तुरंत 'घमंडी' का लेबल चिपका दिया जाता है और न जाने कितनी बातें होती हैं। ओफ्फ। ये ज्ञान का प्रमाण-पत्र! बस मुसीबतों से कहना है 'आ बैल मुझे मार।'

यद्यपि इस प्रमाण-पत्र से सम्मान मिलता है, बाह्य अनुकूलता भी मिल जाती है; किन्तु इस मान को बनाए रखने में अपने-आपको मारना पड़ता है, अपनी इच्छाओं का गला घोंटना होता है। जबतक मुझे ज्ञान का प्रमाण-पत्र नहीं मिला था, तबतक मैं निश्चिन्त हो ज्ञान वृद्धि में लगा रहता था; बस अपने आनन्द के लिए ही सब कार्य करता था, पर अब जबकि मुझे ज्ञान का प्रमाण-पत्र मिल गया है तो मेरी हर क्रिया पर सबका ध्यान रहता है। अतः मुझे भी सावधानी रखनी पड़ती है। ऊपर से अपनी पोजीशन को कायम रखने की चिन्ता अलग। इन सब चिन्ताओं से ग्रस्त मैं अगले वर्ष भी ऐसी ही सफलता हासिल कर सकूँगा – इसमें मुझे शक होने लगा है। तुम्हारे साथ भी ऐसा ही सब घटता होगा। तुम ऐसे में क्या करते हो लिखना।

कॉलेज के बारे में पिक्चर व टी.वी. सीरियल में देखकर अनेकों मीठी कल्पनाएं संजो रखी थीं। लगता था कि कॉलेज में पिकनिक जैसा वातावरण होता है, सब वहाँ मस्ती करने जाते हैं। क्लास अटेन्ड करना जरूरी नहीं, यदि जाओ भी तो लेक्चरर्स को परेशान करो; पर ये सब मीठी कल्पनायें यथार्थ के कठोर धरातल से टकराकर चूर-चूर हो गईं। कॉलेज न तो पिकनिक स्पॉट है, न ही गुण्डागर्दी का अड्डा; जैसा कि पिक्चर में दिखाते हैं।

यद्यपि यहाँ स्कूल जैसा कठोर बन्धन नहीं, पर अनुशासन तो है ही। अध्यापक हमारी पढ़ाई का ध्यान नहीं रखते, पर हमें स्वयं ही अपनी पढ़ाई का टेंशन रखना पड़ता है, स्कूल से भी अधिक मेहनत करनी पड़ती है। पहले घर से चेप्टर पढ़कर जाना होता है, अन्यथा कुछ समझ नहीं आता। यहाँ होमवर्क का लफड़ा नहीं, पर नोट्स तो स्वयं ही बनाने पड़ते हैं; जिसके लिए घंटों लायब्रेरी में बैठना पड़ता है। खैर, ये सब बातें छोड़ो, यह सब तो तुम्हारे साथ भी होता होगा। तुम्हें यह सब देखकर कैसा लगा? लिखना।

द्रव्यों के बारे में तुमने लिखा तो, भाई साहब! पहले तुम मुझे यह तो बताओ कि द्रव्य किसे कहते हैं? वे कितने होते हैं? पर्याय किसे कहते हैं? यह सब समझने के पश्चात् ही मुझे तुम्हारी पूरी बात समझ आयेगी।

तुमने क्रमबद्धपर्याय के बारे में बड़ी-बड़ी बातें लिखीं। 'सब कुछ निश्चित है। जो कुछ होना होता है, वही होता है, हम कुछ फेर-बदल नहीं कर सकते।' क्या तुम्हें भी इस पर पूरा विश्वास है?

देखो विचार, कहना अलग बात है और मानना अलग। जैसे हम सभी कहते रहते हैं कि मृत्यु अवश्यंभावी है। जो पैदा हुआ है, वह मरता अवश्य है। इस दुनिया में अमर कोई नहीं है। हमें भी एक-न-एक दिन मरना है। आज नहीं तो कल। हम घर से बाहर जा रहे हैं, तो हमें पता नहीं है कि हम लौटकर आएंगे भी या नहीं? पर क्या वास्तव में हम इन सब बातों पर विश्वास करते हैं?

नहीं, बिल्कुल नहीं; यदि करते होते तो हमारे दैनिक जीवन में परिवर्तन अवश्य आता। जब किसी व्यक्ति को पता चल जाता है कि उसे केंसर है, वह दो-चार माह का ही मेहमान है; तो क्या उसका दैनिक आचरण बदल नहीं जाता? क्या फिर वह ऐसा नया व्यापार प्रारम्भ करता है कि जिसके जमने में भी दो-चार साल लगें? यदि बच्चे को केंसर है तो फिर क्या हम उसे स्कूल भेजते हैं?

नहीं, क्योंकि अब क्या जरूरत है पढ़ाई की। यदि युवा को केंसर होता है तो उसे खुली छूट मिल जाती है कुछ भी करने की। केंसर पीड़ित व्यक्ति कोई भी हो, सभी उसी का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं। उसकी प्रत्येक फरमाइश पूरी होती है। उसे कोई कार्य करने नहीं दिया जाता। वह पूरी स्वतंत्रता से कुछ भी कर सकता है। सोलह साल की लड़की पर जो बंधन समाज ने, परिवार ने लाद रखे

हैं; यदि वह केंसर पीड़ित है तो उसे कोई बंधन नहीं, पाबंदी नहीं। यह फ़र्क क्यों? क्यों?? क्यों???

बस यही न कि उसे चंद दिनों जीना है, उसे अपनी हर इच्छा की पूर्ति करने दो।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिसे चार-छह माह में मौत होने की निश्चित जानकारी हो जाती है, वह व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक, व्यवसायिक कार्यों के प्रति जिसप्रकार उदासीन हो जाता है; उसप्रकार दूसरे लोग क्यों नहीं? यह भी तो हो सकता है कि केंसर पीड़ित व्यक्ति चार-छह माह बाद मरे व दूसरा स्वस्थ व्यक्ति हार्ट फेल से या एक्सीडेन्ट से २-४ दिन में ही मर जाए। जब हमें हमारी मृत्यु का समय ज्ञात नहीं होता, तब हम निश्चिंत होकर वर्षों की प्लानिंग करते हुए जीते हैं। – यही सब प्रवृत्ति बताती है कि हम वचनों से भले ही कुछ भी कहें, पर मानते तो यही हैं कि हम वर्षों जियेंगे।

इसीप्रकार यदि हमें इस बात पर पूरा भरोसा हो जाए कि जो कुछ, जिस समय में, जिस कारण से होना होता है; वह उस समय में, उस कारण से अवश्य होता है; उसमें कुछ फेर-बदल नहीं किया जा सकता है तो फिर हमारे समस्त भय दूर हो जाने चाहिए। पर ऐसा होता देखा नहीं गया। अतः मुझे यह कुछ जमता नहीं है।

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ११ अक्टूबर, १९९३ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम बहुत जल्दी भटक जाते हो। अब तुम्हें अपनी योग्यता पर अविश्वास क्यों होने लगा है? सफलता अब तुम्हारा साथ छोड़ देगी – ऐसा तुम्हें क्यों लगने लगा है? विश्वास के बिना हर काम कठिन है। जीवन का मार्ग बाधाओं की चट्टानों से पटा पड़ा है; किन्तु विश्वास की जलधारा के सामने ये बाधाओं की चट्टानें भी टूट कर बिखर जाती है। पूरी तन्मयता के साथ जब हम किसी काम में एकाग्र होते हैं तो सफलता चरण चूमती है और तुम तो इसमें माहिर हो, फिर चिन्ता किस बात की।

यदि कोई व्यक्ति किसी क्षेत्र विशेष में सफलता प्राप्त करता है, तो यह निश्चित ही है कि उस व्यक्ति ने उस क्षेत्र से, उस विषय से, उस वस्तु से तन्मयता स्थापित की है। उसमें तन्मय होकर उसने आस-पास के वातावरण को भुला-सा दिया है। बड़े-बड़े दार्शनिकों, वैज्ञानिकों का भुलक्कड़ होना इसी तन्मयता का परिणाम है। कारण कि जब व्यक्ति एक वस्तुविशेष में तन्मय हो जाता है तो उसका ध्यान अन्य बातों की ओर नहीं जाता है। अथवा हम इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि सफलता एक बेहद खूबसूरत नवयौवना है, जो उसी का वरण करती है, जो एकनिष्ठ हो, उसमें ही तन्मय हो। इसके साथ-साथ हमें दूसरों की भावनाओं का भी ख्याल रखना चाहिए, पर इस कीमत पर नहीं कि हम अपने मूल ध्येय से ही विचलित हो जाए।

तुमने द्रव्य और पर्याय के बारे में जानना चाहा है। अत: संक्षेप में लिख रहा हूँ।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं और उसका कभी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय पलटती है। आत्मा का भी कभी नाश नहीं होता; क्योंकि वह एक द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवाला होता है। गुण द्रव्य के सम्पूर्ण भाग और उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में हमेशा विद्यमान रहता है, किन्तु पर्याय बदलती रहती

है। गुणों में होनेवाले प्रति समय के परिवर्तन को ही पर्याय कहते हैं। इसे इसप्रकार भी कहा जा सकता है कि द्रव्य में जो अपरिवर्तनीय स्थिर भाग है वह गुण है और अस्थिर है, परिवर्तनशील है, वह पर्याय है।

अत: द्रव्य द्रव्यदृष्टि से स्थिर है और पर्यायदृष्टि से अस्थिर। जैसे सोना एक पुद्गल द्रव्य है, उसके पीतत्वादि गुण है जो कि सोने में हमेशा हर अवस्था में विद्यमान रहते हैं और कंगन कुण्डलादि सोने का पर्याय है, जो बदलती रहती है। कंगन पर्याय के नाश होने पर, कुंडल पर्याय उत्पन्न होती है, पर इससे सोने का नाश नहीं होता, वह दोनों ही अवस्थाओं में अपने समस्त गुणों के साथ विद्यमान रहता है।

इसीप्रकार सभी द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता, वे हमेशा किसी न किसी अवस्था में विद्यमान रहते हैं, मात्र उनकी पर्याय पलटती है।

ये द्रव्य छह प्रकार के होते हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। ये सभी द्रव्य मिलकर ही विश्व कहलाते हैं। इन द्रव्यों का कभी नाश नहीं होता। अत: उनके समूह स्वरूप विश्व का भी कभी नाश नहीं होता।

हमें जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सभी पुद्गल है; क्योंकि एकमात्र पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, शेष द्रव्य अरूपी है। जिसमें रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श पाया जाता है उसे ही पुद्गल कहते हैं।

जीव और पुद्गल के गमन में जो उदासीन रूप से निमित्त है; वह धर्मद्रव्य है तथा इन्हीं जीव और पुद्गल की स्थिति में उदासीन रूप से निमित्त अधर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों के रहने में निमित्त आकाश द्रव्य है। जगत् के समस्त पदार्थों के परिणमन में निमित्त काल द्रव्य है। इसे समय भी कहते हैं। जो ज्ञाता-दृष्टा है, जिसमें ज्ञान है; वह जीव है।

यह जीव अवस्था की दृष्टि से तीन प्रकार का होता है – बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। इनके बारे में विस्तार से कल लिखूँगा।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

भोपाल, दि. २० अक्टूबर १९९३ ई.

प्रिय विकार,

जयजिनेन्द्र

एक पत्र कल दिया था। जिसमें लिखा था कि जीव अवस्था की दृष्टि तीन प्रकार के होते हैं - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

अनादिकाल से यह जीव शरीर की उत्पत्ति में ही अपनी उत्पत्ति और शरीर के नाश में ही अपना नाश तथा शरीर से संबंध रखने वालों को अपना मानता आ रहा है। इसप्रकार आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थों में अपनापन मानने के कारण ही यह जीव बहिरात्मा कहलाता है।

जो जीव भेदविज्ञान के बल से आत्मा को देहादिक से भिन्न जानता है, मानता है और अनुभव करता है। वह ज्ञानी आत्मा ही अंतरात्मा है। आत्मा में ही अपनापन मानने के कारण तथा आत्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य पदार्थों में अपनापन की मान्यता छोड़ देने के कारण ही वह अंतरात्मा कहलाता है। अंतरात्मा तीन प्रकार के होते हैं - उत्तम, मध्यम और जघन्य।

अंतरंग व बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित उत्कृष्ट शुद्धोपयोगी क्षीणकषाय मुनि (बारहवें गुणस्थानवर्ती) उत्तम अंतरात्मा है। अविरत सम्यग्दृष्टि (चौथे गुणस्थानवर्ती) जघन्य अंतरात्मा है। उक्त दोनों के मध्य दशावर्ती देशव्रती श्रावक और महाव्रती मुनिराज (पाँचवें से ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती) मध्यम अंतरात्मा हैं।

यही अंतरात्मा आगे चलकर अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्मा बनते हैं। परमात्मा दो प्रकार के होते हैं - सकल व निकल।

चार घातिया कर्मों से रहित अरहंत भगवान शरीर सहित होने से सकल परमात्मा कहलाते हैं और कर्मों से रहित सिद्ध भगवान शरीर रहित होने से निकल परमात्मा कहलाते हैं।

संसारमार्गी होने से बहिरात्मपन हेय है। मुक्तिमार्ग का पथिक होने से अंतरात्मपन कथंचित् उपादेय है तथा परमात्मपन अतीन्द्रिय सुखमय होने से सर्वथा उपादेय है।

अत: हम सबको परमात्मा बनने की भावना करनी चाहिए।

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. २० नवम्बर, १९९३ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो बड़ी-बड़ी बातें लिखीं, वे कुछ जमीं नहीं; क्योंकि मैंने तो तथाकथित धर्मात्माओं को ही सबसे ज्यादा पाप करते देखा है। जो दिन में तीन-तीन बार मन्दिर जाते हैं, बहुत पूजा-पाठ करते हैं, सभी धार्मिक अनुष्ठानों में आगे रहते हैं; वे ही दूसरों को सबसे ज्यादा ठगते हैं। दो-तीन बहुत धर्मात्मा दिखने वाले व्यक्तियों से तो मेरे पापा ही ठगे गए हैं। एक किस्सा मैं तुम्हें लिखता हूँ।

एक दिन की बात है पापा को मंदिर में एक बहुत विनम्र व्यक्ति मिला। वह धर्म की बड़ी-बड़ी बातें लच्छेदार भाषा में कर रहा था। प्रभावित होकर मेरे पापा उसे खाना खिलाने घर ले आए। उसके सरल स्वभाव, मीठी वाणी और विनम्र व्यवहार से हम सभी भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। उसकी प्रवृत्ति भी साधु-सन्तों-सी नजर आती थी। हमारे मुख से तो दुःख-दर्द में "हाय-राम" निकलता है पर उसके मुख से तो "अर्हंत" के अलावा कुछ निकलता ही न था। आचार-व्यवहार भी सात्विक था। मूली, गाजर, पालक आदि जमीकंद, पत्ती वाली सब्जी वह कुछ नहीं खाता था। पैसे वगैरह को तो कभी कुछ न लेता था, अपितु कहता था कि मैं तो दान में विश्वास करता हूँ, मैं किसी से कुछ लेता नहीं। यदा-कदा उसे दान करते भी देखा था। धीरे-धीरे उसका हमारे घर आना-जाना बढ़ गया। हम सब उससे काफी घुल-मिल गए। महीने में १५ दिन वह हमारे घर ही खाना खाता।

उसके सरल व्यवहार व धार्मिक रुचि देखकर पापा ने कभी उसके बारे में कुछ जानकारी ही नहीं की। मम्मी ने एक-दो बार कहा भी तो पापा झिड़क देते – इतने धर्मात्मा व्यक्ति पर शक करती हो, तुम्हें शर्म नहीं आती। देखो, वह सब धार्मिक कार्यों में आगे-आगे रहता है। सब प्रोग्राम अटेन्ड करता है, विद्वानों पर पैसा खर्च करता है, दान देता है। उसमें क्या खराबी नजर आती है तुम्हें; जो तुम उस पर शक करती हो? मम्मी कभी दबी जबान से कह देतीं कि और कुछ बुराई तो नहीं है पर उसका कुछ काम-धंधा नजर नहीं आता, दिन-रात मन्दिर

में ही नजर आता है तो फिर उनके पास खर्च करने को इतना पैसा कहाँ से आता है? पर पापा पर उसका रंग ऐसा चढ़ा था कि वे किसी की नहीं सुनते थे। उसके अंधभक्त हो गए थे।

धीरे-धीरे हम सब भी उसके आदी हो गए। ऐसा करीब सालभर चलता रहा। जब उसने देखा कि हम सब भी उसके विश्वास की गिरफ्त में अच्छी तरह आ चुके हैं, तो मौका देखकर एक दिन उदास-सा वह हमारे घर आकर बोला कि – मेरे पैसे चोरी हो गए हैं और भाईसाहब का एक्सीडेन्ट हो गया है। अतः मुझे दो लाख रुपये की सख्त जरूरत है। बस भाई के पास से लौटकर चुका दूँगा। ब्याज चाहे जितना ले लेना। पर अभी मेरी मदद कर दो।

मम्मी का माथा थोड़ा ठनका; पर पापा के आगे किसी की चलने वाली कहाँ थी। पापा ने व्यवस्था करके दो लाख रुपये दे दिए। बस फिर उसे लौटकर तो आना ही न था। बाद में पता चला कि वह इसी तरह कई लोगों को ठग चुका है। यही उसकी आजीविका है।

अभी कुछ दिन पूर्व पेपर में पढ़ा था कि एक साधु महाराज कीमती सामान चुराकर भाग गए। इसप्रकार धार्मिक बनकर लोगों को ठगने से तो हम अधार्मिक ही भले। दिन-रात चोरी के भाव रहते हैं, ठगने के उपाय सोचते हैं और दो समय दर्शन कर लिया तो क्या धर्म हो गया?

नहीं चाहिए हमें ऐसा धर्म, नहीं चाहिए।

इस घटना को जब भी याद करता हूँ तो विविध विचार मन में डोलते हैं और मन काफी अशांत हो जाता है। मैं इन विचारों से दूर भागना चाहता हूँ। समझ में नहीं आता कैसे इनसे दूर रहूँ? तुम्हीं कोई उपाय बताओ।

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. २५ दिसम्बर, १९९३ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे दिल व दिमाग की हालत मैं समझ सकता हूँ। तुम बहुत भावुक हो। भावुक और विश्वासी व्यक्ति जब अविश्वास की तीव्र चोट खाता है, तो दर्द से तड़फ उठता है। फिर वह चोट पूज्य व्यक्ति से मिली हो तो कहना ही क्या है? तुम्हारी तड़फ, तुम्हारा दर्द सभी तुम्हारे पत्र में व्यक्त हो रहे हैं।

तुम धर्म से दूर रहना चाहते हो। पर तुम्हारा यह एकपक्षीय निर्णय शीघ्रता में लिया गया है। ठीक ही है भावुक व्यक्ति प्राय: शीघ्र निर्णय कर लेते हैं। ये शीघ्रता में किए गए भावुकता भरे एक-पक्षीय निर्णय उसे अनेक परेशानियों में डाल देते हैं। अत: कोई भी निर्णय करने से पहले तुम विचार करो। उचित व सही दिशा में विचार करने से ही मानव बहुत कुछ पा लेता है। यदि उन विचारों की उचित क्रियान्विति भी वह करे तो "सौने पर सुहागा हो जाय" पर ये गलत निर्णय व उसकी क्रियान्विति "एक तो करेला, ऊपर से नीम चढ़ा" का काम करती है।

तुमने धर्म विशेष के आचरण का नाटक करने वाले व्यक्ति विशेष में अधार्मिक क्रिया देखी और तुम धर्म को बुरा समझकर धर्म से ही विमुख होने लगे। यह कहाँ तक उचित है?

व्यक्ति विशेष में बुराइयां होने से धर्म खराब नहीं हो जाता। कोई चोर व ठग साधु व सज्जनता का वेष बनाकर हमें लूट ले जाए तो इससे धर्म कैसे खराब हो गया। जैसे यदि कोई व्यक्ति गांधीजी के सिद्धान्तों का नारा लगाते हुए भी उसके विपरीत कार्य करे तो इससे गांधीजी के सिद्धान्त कैसे दूषित हो सकते हैं?

मित्र, तुमने जिस धर्मात्मा की बात लिखी है, वह तत्वज्ञानी नहीं था। उसने तो तत्वज्ञानी होने का नाटक रचा था, अपने सौम्य-सरल व्यवहार से तुम्हारे पापा को ठगा था।

तुमने जिस साधु के बारे में पेपर में पढ़ा, वह तो चोरी के उद्देश्य से ही साधु बना था। वास्तविक साधु तो सदा आत्मध्यान, स्वाध्याय में लीन रहते हैं; वे सर्व-प्रकार के आरम्भ-परिग्रह से सर्वथा रहित होते हैं; विषय-भोगों की लालसा इनमें लेशमात्र भी नहीं होती; सुख-दु:ख उन्हें विचलित नहीं करते और सभी अवस्थाओं में साम्यभाव धारण करते हैं।

ऐसे तपस्वी साधु ही सच्चे गुरु होते हैं। जो मुनि बिना दिए अन्य कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते, पाणिरूपी पात्रों में आहार लेते हैं, जिनके धागा मात्र भी परिग्रह नहीं होता; वे चोर कैसे हो सकते हैं? जिनके परवस्तु को अपना मानने रूप भाव चोरी का भी त्याग होता हैं; वे परवस्तु के ग्रहण रूप द्रव्य चोरी कैसे कर सकते हैं? चोरीव्यसन का त्याग तो सामान्य श्रावक को भी होता है। सामान्य श्रावक अष्टमूलगुणों का धारी और सप्तव्यसनों का त्यागी होता है। इसकी चर्चा मैं अगले पत्र में करूँगा।

देखो मित्र! दुनिया में ठगों की कमी नहीं है। ये ठग नाना प्रकार के सज्जनों के वेश बनाकर हमें ठगते हैं। अत: हमें इन वेशधारी ठगों से सावधान अवश्य रहना चाहिए, पर उनके कारण सज्जनों के सत्संग से ही दूर नहीं हो जाना चाहिए।

यदि किसी घटना विशेष से प्रेरित होकर हम सत्संगति से ही विमुख हो जाएंगे तो फिर हमारा कल्याण कैसे होगा?

विशेष क्या लिखूँ? तुम स्वयं समझदार हो।

पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

भोपाल, दि. २ फरवरी, १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र बहुत दिनों से नहीं आया, क्या बात है? मैंने तुम्हें पिछले पत्र में अष्टमूलगुणों के बारे में लिखने को लिखा था, पर मैं भी काम में उलझ गया और पत्र नहीं लिख पाया। अब याद आने पर लिख रहा हूँ।

निश्चय से तो समस्त पर पदार्थों से दृष्टि हटाकर अपनी आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और लीनता ही मुमुक्षु श्रावक के मूलगुण हैं, पर व्यवहार से मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग और पांच उदुम्बर फलों के त्याग को अष्ट मूलगुण कहते हैं।

बड़ का फल, पीपल का फल, ऊमर, कठूमर (गूलर) और पाकर फल – इन पाँच जाति के फलों को उदुम्बर फल कहते हैं। उक्त सभी चीजों के सेवन से बहुत त्रस जीवों का घात होता है, अत: इनका सेवन नहीं करना चाहिए।

इन आठ मूलगुणों में से मदिरा पान व मांस खाना सप्तव्यसनों में भी सम्मिलित है। इन दोनों का त्याग भी मूल गुण में आता है।

किसी भी विषय में तल्लीन होने को अर्थात् आदत को व्यसन कहते हैं। यहाँ बुरे विषय में लीन होने को व्यसन कहा गया है। वैसे राग-द्वेष व आकुलता उत्पन्न करने वाली सभी आदतें व्यसन ही हैं। निश्चय से तो जो आत्मा के स्वरूप को भुला दें, वे मिथ्यात्व से युक्त राग-द्वेष परिणाम ही व्यसन हैं।

वे सात होते हैं – जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान करना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना; – ये सातों द्रव्य व भाव के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

हार-जीत पर दृष्टि रखते हुए रुपये-पैसे या किसी भी प्रकार के धन से कोई भी खेल खेलना या शर्त लगाकर कोई काम करना या दाव लगाकर अधिक लाभ की आशा व हानि का भय होना द्रव्यजुआ है। मारकर या मरे हुए त्रस जीवों का कलेवर खाने में आसक्त रहना एवं भक्षण करना द्रव्यमांसखाना व्यसन है।

शराब, भांग, चरस, गांजा आदि नशीली वस्तुओं का सेवन करना द्रव्य मदिरा पान हैं। वेश्या से रमना, उसके घर आना-जाना द्रव्य रूप से वेश्यागमन है। जंगल के रीछ, बाघ, हिरण, सूअर वगैरह स्वच्छन्द फिरने वाले जानवरों को तथा छोटे-छोटे पक्षियों को निर्दय होकर बन्दूक आदि किसी भी हथियार से मारना व मारकर आनन्दित होना द्रव्यरूप से शिकार खेलना है।

अपनी धर्मानुकूल ब्याही पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्रियों के साथ रमण करना द्रव्यपरस्त्रीरमण व्यसन हैं।

प्रमाद से बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करना द्रव्यचोरी है।

इन द्रव्यरूप से सातों व्यसनों को तो हम कभी समाज के भय से, कभी सरकार के भय से या कभी अपयश के भय से भी सेवन नहीं करते हैं; परन्तु भावरूप व्यसनों को हम निरन्तर चौबीसों घंटे सेवन करते रहते हैं। अत: भावव्यसन का त्याग परम आवश्यक है।

भावव्यसन को बताते हुए पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं -

(सवैया इकतीसा)

अशुभ में हार शुभ में जीत यहै धूत कर्म।
देह की मगनताई, यहै मांस भखिवो॥
मोह की गहल को अजान यहै सुरापान।
कुमति की रीति गणिका को रस चखिवो॥
निर्दय है प्राण-घात करवौ यहै शिकार।
परनारी संग पर बुद्धि को परखिवो॥
प्यार सौ पराई सौंज गहिबे की चाह चोरी।
ऐहि सातों व्यसन विडारि ब्रह्म लसिवो॥

अर्थात् पुण्योदय (शुभ) में जीत (हर्ष) और पापोदय (अशुभ) में हार (विषाद) मानना भावजुआ है। इस मान्यता का त्याग ही सच्चा जुआ त्याग है।

देह में मगन रहना अर्थात् शरीर के पुष्ट होने पर अपना (आत्मा का) हित एवं शरीर के दुबले होने पर अपना (आत्मा का) अहित मानना भावमांस खाना व्यसन है।

मोह में पड़कर आत्मस्वरूप से अनजान रहना भाव मदिरापान है। खोटी बुद्धि में रमने का भाव भाव वेश्यागमन है अर्थात् अपने आत्मस्वभाव को छोड़ विषय-कषाय में बुद्धि रमाना ही भाव वेश्यारमण है। वेश्या तो धन, स्वास्थ्य व इज्जत नष्ट कर छोड़ देती है, पर कुबुद्धि तो आत्मा की प्रतिष्ठा को हर कर अनंतकाल के लिए निगोद के दु:खों में धकेल देती है।

तीव्र राग वश निर्दोष प्राणियों के मारने के भावों के द्वारा अपने चैतन्यप्राणों का घात करना भावरूप से शिकार खेलना है।

तत्त्व को समझने का यत्न न करके दूसरों की बुद्धि की परख में ही ज्ञान का सदुपयोग मानना भावपरस्त्रीरमण है।

तथा मोहभाव से परवस्तु से साझेदारी की चाह करना (अपनी मानना) ही भावचोरी है।

इन सातों व्यसनों को त्यागे बिना आत्मा को नहीं जाना जा सकता और आत्मा को जाने बिना सच्चा सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

अत: इनका त्याग आवश्यक है।

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १५ मार्च १९९४ ई.

डियर विचार

तुम्हारे दोनों पत्र यथासमय मिले। तुमने व्यसनों के बारे में लिखा। यह सब पढ़कर तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। व्यसनों का ऐसा स्वरूप तो मैंने पहले कभी न पढ़ा, न सुना। जिन कार्यों को हम होशियारी, बुद्धिमानी माने बैठे थे; वे ही सभी दुर्व्यसन हैं, दुःख देने वाले हैं। सचमुच हमें सर्वप्रथम इनको ही छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए; क्योंकि इनके कारण ही हम अनन्त दुःखी होते रहते हैं और अपने मानव जीवन का अमूल्य समय दूसरों की बुद्धि को परखने में व अपने शरीर की पुष्टि करने में ही लगाते रहते हैं। अपनी बुद्धि का उपयोग हमने विषय-कषायों में ही किया, आत्मज्ञान से तो हम वंचित ही रहे हैं।

इसमें दोष हमारे माता-पिता का भी है। प्रथम गुरु तो हमारे माता-पिता ही हैं। उन्होंने ही हमें आत्मज्ञान प्राप्ति की ओर प्रेरित नहीं किया, उत्साहित नहीं किया, संस्कार नहीं दिए। उन्होंने स्कूल की पढ़ाई के लिए तो अनेकों प्रलोभन दिए, पर पाठशाला जाने को कभी नहीं कहा। यह तो अनेकों बार कहा कि अभी पढ़ाई में थोड़ा कष्ट उठालोगे, ज्ञानार्जन कर लोगे, पढ़ लोगे तो जिन्दगी भर सुखी रहोगे, पर ये कभी नहीं कहा कि जीवन में शांति पाना है, सुखी होना है, तो आत्मज्ञान करो, सच्चा सुख तो आत्मज्ञान में ही है। खैर देर आयद, दुरुस्त आयद।

विचार, एक बात बताओ। क्या मात्र आत्मा को जानने से ही सच्चा सुख प्राप्त हो जाएगा। यदि ऐसा है तो सच्चा सुख बड़ी आसानी से प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि हम सभी आत्मा ही हैं, तो फिर हमें स्वयं को जानने के लिए, पहिचानने के लिए कौन से पहाड़ तोड़ने हैं, बस नजरें झुकाई और देख लिया, पहिचान लिया। बस, मैं अब आत्मध्यान करने जा रहा हूँ। अतः पत्र यहीं समाप्त कर रहा हूँ, शेष फिर।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. २० अप्रैल १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। अरे भाई! शब्द मात्र शब्द ही तो नहीं, वे अपने में गूढ़ अर्थ भी समाए रहते हैं, शब्दों के चयन में व्यक्ति का व्यक्तित्व झलकता है। शब्दों के प्रस्तुतिकरण में व्यक्ति की प्रतिभा झांकती है। अत: प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य सोच समझ कर बोलना चाहिए; क्योंकि उनके प्रयोग में हमारा व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित होता है।

तुमने लिखा कि आत्मा को नजर झुकाकर देखा जा सकता है; पर आत्मा तो अमूर्तिक है, वह आँखों की नजर से पकड़ में नहीं आता; वह तो अन्तरोन्मुखी दृष्टि का विषय है, अनुभवगम्य है। पहले तुम आत्मा का सही स्वरूप तो जानो फिर आत्मध्यान करना। क्या तुम जानते हो कि आत्मा, शरीर, मन, वाणी और मोह-राग-द्वेष यहाँ तक कि क्षणस्थायी परलक्ष्यी बुद्धि से भी भिन्न एक त्रैकालिक, शुद्ध, अनादि-अनन्त चैतन्य ज्ञानानन्द स्वभावी ध्रुवतत्व है। इसे न मानसिक विकल्पों में बांधा जा सकता है, न ही इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध ही किया जा सकता है। यह तो वाग्विलास व शब्दजाल से परे है, मात्र अनुभूतिगम्य है। आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। अत: यदि तुम्हें आत्मध्यान करना है तो पहले तत्त्वविचार करो।

तुमने पूछा कि क्या मात्र आत्मा को जानने से ही सच्चा सुख प्राप्त हो जाएगा ? हाँ भाई; हाँ, मात्र आत्मा को ही जानने से सच्चा सुख प्राप्त होता है। यदि आत्मा को एक समय के लिए भी जान लिया, पहिचान लिया तो सच्चे सुख की प्राप्ति का मार्ग खुल जाता है तथा आत्मा को लगातार अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनिट से भी कम समय) तक जानते रहे, ध्यान करते रहे तो अविनाशी सच्चा सुख प्राप्त हो जाता है। इस अविनाशी सच्चे सुख की प्राप्ति निरावरित जीवन अपना कर ही होती है।

शेष कुशल। विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १० मई १९९४ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने लिखा कि निरावरित जीवन ही सुखमय जीवन है – यह बात शत-प्रतिशत सही है। इसे सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं। यह तो हमारे प्रतिदिन के दैनिक अनुभवों से हस्तामलकवत स्पष्ट ही हैं। जब हम कोई बुरा कार्य करते हैं और उसे छिपाते हैं अर्थात् मन को झूठ के आवरण से आवरित कर देते हैं, निरावरित नहीं होने देते; तब हमें हमेशा सतर्क रहना पड़ता है कि कभी अनायास सुषुप्तावस्था या स्वप्नावस्था में वह निरावरित न हो जाए। हमेशा शंकित बने रहते हैं हम। चौबीसों घंटे सशंकित रहना, भयभीत रहना – ये कितने बड़े दुःख हैं ? इनकी उपस्थिति में मानव शांति के क्षणों में भी सुखानुभूति नहीं कर सकता, पर हमने ज्योंही मन को निरावरित किया, त्योंही हम चैन की नींद सो जाते हैं। कहते भी हैं कि अब मेरे मन का बोझ उतर गया, अब मैं चैन से मर सकूँगा।

तन के आवरण के लिए कितने कष्ट उठने पड़ते हैं? इससे तो सभी परिचित ही हैं। कहा भी है – यदि पेट भरना है व तन ढँकना है तो दूसरों की सुननी भी पड़ेगी, सब कुछ सहना भी पड़ेगा।

लौकिक व अनित्य सुख जो कि वास्तविक सुख तो है ही नहीं, परन्तु जिसमें सुख का भ्रम होता है; उसकी प्राप्ति भी आवरणों में नहीं हो सकती तो फिर अलौकिक, अविनाशी, परिपूर्ण, निराकुल-सुख की उपलब्धि का तो कहना ही क्या है ?

निरावरण में जो बेफिक्री व स्वतंत्रता है, वह आवरण में कहाँ ? निरावरित मुनि जितने सुखी नजर आते हैं, क्या आवरित गृहस्थ उसका अंश भी पा सकते हैं? नहीं, कभी नहीं; किन्तु इतना अवश्य है कि गृहस्थ भी जितने अंशों में निरावरित होते जाते हैं, उतने अंशों में उसे भी सुख की उपलब्धि होती जाती है। अतः स्पष्ट है कि आवरण नहीं, अपितु आवरण रहितता सुख का साधन है।

परिपूर्ण निराकुल, सुख की प्राप्ति के लिए मात्र आत्मा की ही नहीं, तन की आवरणरहितता भी आवश्यक है।

आत्मा के आवरण काम-क्रोधादि विकारी भाव हैं, जो कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप को उसीप्रकार आवरित किए रहते हैं, जिसप्रकार वस्त्र तन को।

जब यह आत्मा इन आवरणों को हटाकर शुद्धात्मा का दर्शन करता है तो अन्तर्मुहूर्त्त में अविनाशी सुख का अनुभव करता हुआ अभिनन्दनीय मुक्ति रमा का वरण करता है। यहाँ कुछ जन कुतर्क कर सकते हैं कि यदि आवरण रहितता ही सुख का साधन है तो फिर निरावरित पशु जीवन सुख की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन है।

यह कहना उचित नहीं; क्योंकि मात्र आवरण रहितता सुख का साधन नहीं है; अपितु स्व-स्वरूपोन्मुख जीव जब आत्मा के आवरणों के साथ-ही-साथ शरीर के समस्त आवरणों का भी त्याग कर देता है, तभी उसे परिपूर्ण निराकुल सुख की प्राप्ति होती है।

यहाँ चर्चा मूलतः आत्मा के विकाररूपी आवरणों की है। हमारा मूल ध्येय, मूल उद्देश्य तो यही है कि हम अपनी आत्मा को इन कषायादि विकारों से दूर रखें।

तन के आवरण तो हमारी कमजोरी के द्योतक हैं, कामादि विकार के द्योतक हैं। निश्चल, निर्विकारी बालक भी तन के आवरणों को कहाँ पसन्द करता है ? विकारों के समुद्र में गोता लगाता हुआ मानव ही आवरणों की नौका चाहता है; अतः जितने अंशों में आत्मा विकारों से रहित होता जाता है, उतने ही अंशों में बाह्य आवरण स्वतः छूटते चले जाते हैं।

इसप्रकार शुद्ध आत्मा की अनुभूति करता हुआ जीव जब बाह्य आवरणों का सर्वथा त्याग कर देता है; तब वह आत्मलीनता के बल से अन्तर्मुहूर्त्त में ही परिमार्थिक सुख प्राप्त करता है।

अतः स्पष्ट है कि निर्विकल्प आत्मानुभूतिपूर्वक निरावरित जीवन ही सुखमय जीवन है। यह बात तो तुम्हारे पत्रों के पढ़ने से मुझे समझ आ गई है; किन्तु मन बार-बार एक ही प्रश्न पर जाकर अटक जाता है कि निर्विकल्प अनुभूति क्या है? सदा विकल्पों में ही उलझा हमारा मन क्या कभी निर्विकल्प हो सकता है? विचार-श्रेणी में प्रवेश करते ही वस्तुओं के बारे में हमारे मन में नाना विकल्प सताने लगते हैं। हम कभी कुछ सोचते हैं, तो कभी कुछ। कभी एक बात को सही मानते

हैं तो कभी उसके विपरीत बात को, तो कभी निर्णय ही नहीं कर पाते कि आखिर सही क्या है? इसप्रकार अनेक विकल्प वस्तु के बारे में उत्पन्न होते हैं।

वस्तु के स्वरूप का ज्ञान भी हम इन विकल्पों के माध्यम से ही करते हैं अर्थात् वस्तु के बारे में हम जो कुछ भी अनुभव करते हैं, वह सारी अनुभूति विकल्पों के माध्यम से होती है तो फिर विकल्प रहित होने पर हम ज्ञान से रहित नहीं हो जाएंगे क्या ? तथा ज्ञान रहित तो हम हो नहीं सकते हैं ? तो फिर अनुभूति को निर्विकल्प क्यों कहा ? किसी भी अवस्था में निर्विकल्प अनुभूति कैसे हो सकती है ? जबकि कोई भी अवस्था हो, हम विकल्पों से परे रह ही नहीं सकते ? हमारा मस्तिष्क तो हमेशा कुछ-न-कुछ सोचता ही रहता है, कुछ न सोचे – यह कैसे हो सकता है ?

फिर तुमने लिखा कि आत्मानुभूति प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है, तो यह तत्त्वविचार भी तो विकल्पात्मक ही हुआ न? फिर हम उसे क्यों करें? क्या सविकल्प दशा से हम निर्विकल्प दशा प्राप्त कर सकते हैं?

इसप्रकार विचारों के भंवर में डोलता हुआ मैं अपने मानव जीवन का अमूल्य समय यों ही बरबाद करता रहा हूँ। आशा है तुम मेरी इस उलझन को सुलझाओगे। विशेष क्या ?

तुम्हारे पत्र के इन्तजार में,

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १५ जून १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम मेरे पत्रों को पहले की अपेक्षा गंभीरता से लेने लगे हो, उन पर विचार करने लगे हो; यह जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई।

निरावरित जीवन के बारे में लिखते हुए तुमने मेरे कई पत्रों का सार लिख दिया है। तुम्हारी सूक्ष्म पकड़ को देखते हुए मेरा भी उत्साह बड़ा है।

अब मैं तुम्हें गंभीर विषय भी लिख सकता हूँ। इससे पत्र लंबा हो जाएगा, पर तुम धैर्य से पढ़ना।

'निर्विकल्प अनुभूति' का विषय गंभीर है; किन्तु संसार के दु:खों से छूटने का एकमात्र उपाय भी यही है। अत: इसे समझना व समझकर जीवन में उतारना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए इसका वास्तविक स्वरूप जानना भी जरूरी है। जबतक हमें आत्मानुभूति नहीं हो जाती, तबतक हमें इसकी चर्चा तो करना ही चाहिए।

तुमने अपने पत्र में विकल्प व निर्विकल्प अनुभव के बारे में कुछ प्रश्न किए हैं। वे सभी प्रश्न एक-दूसरे से संबंधित हैं। इस पत्र में मैं उनका समाधान करने का प्रयास करूँगा। यदि फिर भी कुछ अस्पष्ट रह जाए या समझ न आए तो लिखना।

तूमने पूछा है कि 'वस्तु के बारे में जब हमारी सारी अनुभूति विकल्पों के माध्यम से ही होती है, तो आत्मानुभूति को निर्विकल्प क्यों कहा ?'

देखो, विकल्प दो प्रकार के होते हैं। रागात्मक विकल्प व ज्ञानात्मक विकल्प।

रागात्मक विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं – बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वक।

अनुभव के समय में सरागी जीवों में बुद्धिपूर्वक के कोई विकल्प नहीं होते, उपयोग भी विकल्प की तरफ नहीं होता; अपितु उपयोग निजस्वरूप में

ही लगा रहता है। अत: स्वानुभव को निर्विकल्प कहते हैं; क्योंकि उपयोग जब स्वानुभव में लगे, तभी निर्विकल्पदशा कहलाती है अथवा छद्मस्थ के ख्याल में आये ऐसा स्थूल विकल्प वहाँ नहीं हैं; अत: स्थूल कथन में वहाँ निर्विकल्पता ही कहने में आती है। वहाँ पर जो सूक्ष्म कषाय या विकल्प विद्यमान हैं, वे अबुद्धिपूर्वक हैं तथा सर्वज्ञ के या अवधि-मन:पर्ययज्ञानी के ही गम्य हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मानुभूति को जो निर्विकल्प कहा जाता है, वह बुद्धिपूर्वक रागात्मक विकल्प के निषेध की अपेक्षा कहा जाता है। ज्ञानात्मक विकल्प तो ज्ञान का स्वरूप होने से सदा ही रहते हैं व रहेंगे। उनके निषेध से तो ज्ञान का ही निषेध हो जाएगा।

ज्ञान का स्वरूप ही विकल्पात्मक है; क्योंकि दर्शन को निराकार व ज्ञान को साकार कहा गया है। निराकार माने निर्विकल्प व साकार माने सविकल्प। सामान्य अवलोकन को निर्विकल्प कहते हैं जो कि दर्शन गुण का काम है और विशेष अवलोकन को सविकल्प माना गया है, जो कि ज्ञान गुण का कार्य है। इसलिए जहाँ भी आत्मानुभूति में विकल्पों के निषेध की बात आए, वहाँ रागात्मक विकल्पों के निषेध की बात ही समझनी चाहिए।

निर्विकल्प होने का अर्थ निर्विचार भी नहीं है; क्योंकि निर्विचार दशा तो मन के अभाव में असैनी जीवों के भी पाई जाती है, पर उन्हें निर्विकल्प आत्मानुभूति तो नहीं हो जाती। तत्त्वविचार करते-करते विचारों का थम जाना और रागात्मक विकल्पों का अभाव होकर ज्ञानादि अनन्त गुणों का आत्मसन्मुख होना ही आत्मानुभूति है।

यह तो तुम स्वीकार करते ही हो कि आत्मा में निरन्तर वैचारिक प्रक्रिया चला करती है। एक भी समय ऐसा नहीं होता कि जब मन सहित प्राणी कुछ न कुछ विचार न करता रहता हो। सांसारिक प्राणियों की यह वैचारिक प्रक्रिया परलक्ष्यी है, अत: दु:खदायी है। जब यह जीव अपनी इस वैचारिक प्रक्रिया में पर का लक्ष्य छोड़कर 'स्व' को ही लक्ष्य बना लेता है, तो वही प्रक्रिया

सुख का साधन बन जाती है; क्योंकि स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्व-मंथन की प्रक्रिया है, किन्तु तत्त्व-मंथनरूप विचारों से भी वह आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी; क्योंकि कोई भी विचार ऐसा नहीं, जो आत्मानुभूति करा दे।

ध्यान रहे, तत्त्वविचार आत्मानुभूति प्राप्ति का उपाय है, साधन है; साध्य नहीं। इसलिए आत्मानुभूति अपने इस विकल्पात्मक साधन तत्त्वविचार का भी अभाव करती हुई प्रगट होती है। अत: तत्त्वविचार प्रारंभिक भूमिका में उपादेय है, सर्वथा नहीं।

जिसप्रकार गन्तव्य (मंजिल) पर पहुँचने के लिए वाहन अनिवार्य है, पर यदि वाहन में ही बैठे रहे तो गन्तव्य पर नहीं पहुँच सकेंगे; उसीप्रकार आत्मानुभूति के लिए तत्त्वविचार आवश्यक है, पर यदि तत्त्वविचार में ही अटके रहे, तो आत्मानुभूति नहीं हो सकेगी; अत: यह तत्त्वविचार भी हेय है।

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं, अपेक्षा नहीं; क्योंकि स्वयं के द्वारा स्वयं की ही तो अनुभूति करना है। आखिर इसमें पर की अपेक्षा क्यों हो? आत्मानुभूति में पर के सहयोग का विकल्प बाधक ही है, साधक नहीं। हम विकल्पों के माध्यम से यद्यपि वस्तु के बारे में ज्ञान अवश्य करते हैं, पर वस्तु की अनुभूति विकल्पों से नहीं होती।

जिसप्रकार वस्तु के बारे में किसी को बताने के लिए भाषा की जरूरत है, समझने के लिए नहीं। जिसप्रकार किसी कमरे की लंबाई, चौड़ाई, ऊंचाई जानने के लिए माप की जरूरत नहीं, पर कथन में माप आएगा ही। उसीप्रकार आत्मा के बारे में हम समझते विकल्पों के ही माध्यम से हैं, पर उसकी अनुभूति विकल्पों के माध्यम से नहीं होती। आत्मानुभूति निर्विकल्प ही होती है।

जब हम हापुस, पायरी आदि आमों के बारे में ज्ञान करते हैं तो वह स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि विकल्पों के माध्यम से ही करते हैं; पर जब उसका स्वाद लेते हैं, तो कोई विकल्प नहीं रहता, बस आनन्द ही रहता है; उसीप्रकार हम

आत्मा का ज्ञान विकल्पों के माध्यम से ही करते हैं, पर जब उसका स्वाद लेते हैं, अनुभव करते हैं; तब कोई विकल्प नहीं रहता, बस आनन्द ही रहता है।

निर्विकल्प अनुभव के पूर्व जीव आत्मा के स्वरूप के बारे में अनेक प्रकार से सोचता है कि – मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ। जब यह शरीर ही मेरा नहीं है तो इससे संबंध रखने वाले माता-पिता, पुत्रादि मेरे कैसे हो सकते हैं? जब मुझमें (आत्मा) उत्पन्न होने वाले विकारी-अविकारी भाव भी मेरे नहीं, तो फिर शरीर का तो कहना ही क्या है? वे तो स्पष्ट पर है, पुद्गल है, अजीव है। मैं तो इस सबसे भिन्न ज्ञान-दर्शनरूप हूँ, आनन्दस्वरूप हूँ। – ऐसा सोचते-सोचते जब जीव इन विकल्पों से भी परे हो जाता है; तब ध्याता-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद नहीं रहता। यही निर्विकल्प अनुभव की दशा है, यही आत्मानुभूति है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अनुभव के पूर्व तो विकल्प रहते हैं, परन्तु अनुभव में नहीं; चूँकि अनुभव के पूर्व विकल्प थे, इसलिए सविकल्प से निर्विकल्प होता है – ऐसा कहते हैं। वस्तुतः तो विकल्प द्वारा अनुभव नहीं होता है, जब विकल्प टूटता है, तभी साक्षात् अनुभव होता है।

निर्विकल्प अनुभूति जैसे गंभीर अथाह विषय को मैंने अत्यन्त संक्षेप में तुम्हें लिखा है। इसके बारे में विस्तार से जानने के लिए तुम्हें स्वयं ही अध्ययन-मनन करना होगा; फिर भी जो प्रश्न तुम्हें उठें, लिखना। उनका समाधान करने का यथासंभव प्रयास करूँगा।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

भोपाल, दि. २५ जुलाई १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

मैंने तुम्हें एक पत्र पहले भी दिया था। पर तुम्हारा कोई जवाब नहीं। क्या बात है? क्या तुम्हें पत्र मिला ही नहीं या निर्विकल्प अनुभव के विषय से बोर होकर तुमने मुझसे पत्र-व्यवहार ही बंद कर दिया अथवा तुम मौन रहकर मेरा तिरस्कार करना चाहते हो; क्योंकि किसी ने कहा है कि तिरस्कार करने का सर्वोत्तम उपाय है – मौन।

यदि पत्र नहीं मिला है तो मैं फिर से पत्र भेज दूँगा और यदि तुम इन विषयों से बोर हो गए हो तो मैं इसकी चर्चा नहीं करूँगा, पर तुम यह मौन धारण न करो। यह चुप्पी अच्छी नहीं लगती।

अच्छा बताओ तुम्हारी मम्मी कैसी है ? दीदी के क्या हाल-चाल हैं? तुम आजकल क्या कर रहे हो? अब तो तुम्हारे वहाँ पर अच्छे मित्र बन गये होंगे, अत: समय अच्छा गुजर रहा होगा।

लगता है तुम्हें अब इस पत्र-मित्र की जरूरत नहीं रही। पर मुझे अब तुम्हारे पत्रों की आदत पड़ गई है। नहीं आता है तो मुझे बेचैनी होने लगती है। अत: और नहीं तो दो लाइन लिखकर ही पत्र डाल दिया करो, पर पत्र अवश्य लिखा करो।

मैं तुमसे वादा करता हूँ कि मैं तुम्हें गंभीर विषयों में पत्र लिखकर बोर नहीं करूँगा।

पत्र की प्रतीक्षा में,

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. १ अगस्त १९९४ ई.

डियर विचार,

तुम्हारे दोनों पत्र यथासमय मिले। मौन! मौन!! मौन!!! कितने अर्थ निकाल लिए तुमने इस एक मौन के? खैर, मौन की थाह को कौन पा सकता है ? मौन रहने के अनेक लाभ हैं; क्योंकि इसमें हम मुँह से कुछ न कहकर भी बहुत कुछ कह देते हैं और सामने वाला भी कानों से कुछ न सुनकर बहुत कुछ सुन लेता है तथा वह अपने भावानुसार उसका अर्थ ले लेता है।

जहाँ तक मित्र का सवाल है, तो मैं यहाँ कोई मित्र नहीं बना सका; क्योंकि पहले तो मैं गुण-दोष पर विचार किए बिना, हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढंग और ऐश्वर्य सम्पन्नता आदि दो-चार बातें देखकर ही मित्र बना लेता था। मैत्री का उद्देश्य क्या है? जीवन के व्यवहार में उसका क्या मूल्य है? – यह मैं समझता ही नहीं था, पर अब समझ आया कि मैत्री एक ऐसा साधन हैं, जिससे आत्मशिक्षा का कार्य सुगम हो जाता है। अतः मित्र को गलियों से अवगत कराने वाले, आत्मशिक्षा देने वाले, संसार दुःखों से मुक्ति का उपाय बताने वाले तुम जैसे मित्र को पाकर; खाने-पीने की और मौज-मस्ती की सलाह देनेवाले तथा धर्म को बुढ़ापे में करने की शिक्षा देनेवाले सहपाठियों को मैं मित्र कैसे बनाता ? क्योंकि कौन जाने हमारा बुढ़ापा आएगा भी या नहीं और यदि आया भी तो तबतक हमारी इन्द्रियां व शक्ति इतनी शिथिल हो जाएंगी कि तब हम कुछ करने लायक ही नहीं रहेंगे। अपने दादाजी व नानाजी को मैंने ऐसी अवस्था से गुजरते देखा है। खैर छोड़ों इन बातों को। मैं निर्विकल्प अनुभव के विषय से बोर नहीं हुआ, अपितु उसकी गहराई में खो गया। बहुत से प्रश्न मेरे मन में खड़े हुए हैं। जैसे – अबुद्धिपूर्वक से क्या तात्पर्य है? ज्ञानात्मक विकल्प व अबुद्धिपूर्वक विकल्प में क्या अन्तर है। विकल्प रहित विकल्प कैसे हो सकते हैं? विचार रहित विचार क्या हैं? आदि आदि। मेरा मन इन प्रश्नों में उलझा था कि मम्मी की तबियत खराब हो गई। हुआ यों कि मम्मी अपनी एक सहेली की लड़की की शादी में गई थीं। पता नहीं क्या हुआ कि वे अचानक बेहोश हो गई। डॉक्टर को दिखाया तो वे कहते हैं कि कुछ बीमारी नहीं, बस टेन्शन है। हमने डॉक्टर को बहुत समझाया। कहा कि पहले तो इन्हें अवश्य टेन्शन रहा करता था, पर अब तो कोई टेन्शन नहीं और जिस समय वे बेहोश हुई उस समय तो उन्हें बिल्कुल भी टेन्शन नहीं था। वे शादी में गई थीं व हँसी-खुशी के माहौल में थी। तब डॉक्टर ने कहा कि कुछ टेन्शन ऐसे होते हैं कि जो हमें पता ही नहीं चलते व हमारे अंतर्मन में समाए रहते हैं। हो सकता है कि सहेली की लड़की की शादी देखकर उन्हें अपनी

बेटी की शादी की चिन्ता सताने लगी हो···। डॉक्टर तो न जाने क्या-क्या समझाते रहे; पर मेरा मन डॉक्टर के द्वारा कहे गए 'अंतर्मन' शब्द पर अटक गया। मुझे लगा कि डॉक्टर जिसे अंतर्मन कह रहे हैं, टेन्शन कह रहे हैं; शायद वे ही अबुद्धिपूर्वक के विकल्प हैं; क्योंकि टेन्शन भी तो हम बुद्धिपूर्वक नहीं करते हैं। इसीप्रकार सोने में या स्वप्न में होने वाले जो विकल्प हैं; वे भी अबुद्धिपूर्वक ही होते होंगे। अथवा जब हम कई बार गहराई से कुछ अनुभव कर रहे होते हैं, तब हमसे कोई पूछे कि तुम क्या सोच रहे हो? तब हमारा उत्तर एकदम नकारात्मक होता है कि नहीं, मैं कुछ नहीं सोच रहा। यहाँ यह बात नहीं है कि हमें बात छुपानी है, पर वास्तविकता तो यह है कि उस समय हम स्वयं ही नहीं समझ पाते कि हम क्या सोच रहे हैं? बड़ी अजीब स्थिति होती है यह, अजीब दशा है यह – विचार है पर विचाररहित। इसप्रकार विचारों में उलझा हमारा मन क्या कभी निर्विचार नहीं हो जाता? होता है न। मैं समझता हूँ कि यहाँ 'विचार है' से तात्पर्य होगा कि 'अबुद्धिपूर्वक विचार है' और 'विचार नहीं है' से तात्पर्य होगा कि 'बुद्धिपूर्वक विचार' नहीं है।

तुमने निर्विकल्प अनुभव व उसके आनन्द के बारे में लिखा। उसे पढ़कर मुझे लगा कि ऐसी स्थिति से मैं गुजर चुका हूँ। बहुत सोचा तो मुझे याद आया कि कुछ माह पूर्व मेरा अपेण्डिक्स का ऑपरेशन हुआ था। तब मुझे क्लोरोफार्म देकर बेहोश किया था। जब मुझे क्लोरोफार्म दिया गया। तब प्रारम्भ में मुझे कुछेक विकल्प थे, फिर धीरे-धीरे वे विकल्प समाप्त होने लगे, फिर रोमांच होने लगा, बहुत आनन्द आने लगा – ऐसा लगता था मानो हवा में उड़ रहे हैं, कुछ दर्द नहीं, चिन्ता नहीं, विचार नहीं, विकल्प नहीं; बस आनन्द ही आनन्द।··· इसप्रकार बेहोश होने के बाद में व होश में आने के पहले का मेरा यह अनुभव रोमांचक था; पर मैंने किसी को बताया नहीं। सोचता था सब मेरी मजाक उड़ायेंगे; क्योंकि हो सकता है वह सब मेरा भ्रम रहा हो अथवा मेरी कल्पना। पर तुम्हारे पत्र से लगा कि नहीं वह सब सच था। एक स्थिति ऐसी भी होती है, जो कि आनन्ददायी है।

तुमने कहीं निर्विकल्प अनुभूति लिखा, कहीं आत्मानुभूति व कहीं स्वानुभूति इसमें क्या अन्तर है? मैं समझ नहीं पाया। तुमने लिखा कि आत्मानुभूति को प्राप्त करने का प्रारम्भिक उपाय तत्त्वविचार है। तो तत्त्वविचार से क्या तात्पर्य है? लिखना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ५ सितम्बर १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे निर्विकल्प अनुभव को पढ़कर बहुत हँसी आई। पगले! वह भी कोई निर्विकल्प अनुभव था? तुम अभी निर्विकल्प अनुभव के सही स्वरूप को समझे ही नहीं हो। इसलिए तुम अत्यन्त सुषुप्तावस्था को अत्यन्त जागृत दशा समझ रहे हो। बेहोशी तो सुषुप्तावस्था है, अज्ञानता है, जड़ता है; चैतन्यता नहीं, जागृत अवस्था नहीं और अनुभूति अत्यन्त जागृत अवस्था का नाम है। निर्विकल्पता नाम ही अनुभव का है, आत्मज्ञान का है। इसीलिए निर्विकल्प अनुभूति कहो, आत्मानुभूति कहो, स्वानुभूति कहो या मात्र अनुभव, अनुभूति कहो – सभी एकार्थवाची ही हैं। यह स्थिति अत्यन्त आनन्ददायी है। इसके अतिरिक्त वास्तविक आनन्द, दु:ख रहित आनन्द कहीं नहीं। तुम जो अत्यन्त अज्ञानता में आनन्द का अनुभव कर रहे हो, वह तो ऐसा है कि दर्द को मीठा कहना, उसमें ही आनन्द का अनुभव करना।

ज्ञानात्मक विकल्प और अबुद्धिपूर्वक के विकल्प में बहुत अन्तर है। ज्ञानात्मक विकल्प तो ज्ञान का स्वभाव होने से जीव में सदैव रहते हैं। अत: केवलज्ञानियों के भी ये होते हैं। अबुद्धिपूर्वक विकल्प रागात्मक विकल्प है जो कि केवलज्ञानियों के नहीं होते।

अबुद्धिपूर्वक विकल्प वे रागादि परिणाम हैं, जो मन के व्यापार से रहित केवल मोह के उदय के निमित्त से होते हैं और जो मति-श्रुत ज्ञानियों के जानने में नहीं आते। अनुभव के समय सरागी जीवों के ये अबुद्धिपूर्वक के विकल्प विद्यमान रहते हैं।

संक्षेप में तुम यह समझो कि ज्ञानात्मक विकल्प ज्ञान का स्वभाव ही है। अत: जीव की हर अवस्था (संसारी हो या मुक्त) में विद्यमान रहते हैं और रागात्मक विकल्प सिर्फ संसारी जीवों के होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। अबुद्धिपूर्वक के विकल्प रागात्मक विकल्प हैं, अत: ये संसारियों के ही होते हैं।

वैसे तो अबुद्धिपूर्वक के अनेक अर्थ हैं, जो अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग अर्थ प्रयुक्त होते हैं। अत: प्रकरण के अनुसार ही अर्थ लेना चाहिए।

निर्विकल्प अनुभूति की प्राप्ति के लिए तत्त्वविचार प्रथम सोपान है और प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में किया गया विकल्पात्मक प्रयत्न ही तत्त्वविचार है।

आत्मानुभूति की प्राप्ति हेतु जिन वास्तविकताओं की जानकारी आवश्यक है; उन्हें प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं। अथवा ऐसे तत्व जिनकी सम्यक्श्रद्धान व सम्यग्ज्ञान बिना हमारा दु:ख दूर न हो सके और हम सुखी न हो सकें, उन्हें ही प्रयोजनभूत तत्त्व कहते हैं।

तत्त्व माने वस्तु का सही स्वरूप। जो वस्तु जैसी है, उसका जो भाव, वही तत्त्व है। ये तत्त्व सात होते हैं –

जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

सामान्य रूप में तो दो ही तत्त्व हैं – जीव व अजीव, आस्रवादिक तो जीव-अजीव के ही विशेष हैं।

जीव-अजीव के बारे में मैंने तुम्हें पहले लिखा ही था। शेष आस्रवादिक का स्वरूप तुम स्वयं पढ़ लेना।

सात तत्त्वों का सही स्वरूप जानकर और उनकी श्रद्धा कर तुम अपने दु:ख दूर करने में सफल हो। – ऐसी मैं कामना करता हूँ।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १० अक्टूबर १९९४ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने आत्मानुभूति के बारे में जो लिखा, वह तो ठीक है; पर हम जैसे अल्पबुद्धि आत्मानुभूति कैसे कर सकते हैं? वह तो बड़े-बड़े ज्ञानियों का काम है; क्योंकि मैंने कई बार अनुभव करने की कोशिश की, पर अनुभव होता ही नहीं।

आजकल रोज ही आत्मा का ध्यान करने बैठता हूँ, पर ध्यान होता है पिक्चर का, स्कूल का, दोस्तों का और दिन भर की अनगिनत घटनाओं का, आत्मा का होता ही नहीं है। शायद इसलिए कि आत्मज्ञान तो अतीन्द्रिय है। अतः वह इन्द्रिय व मन से रहित केवलज्ञानी को ही होता होगा। हम-तुम तो इन्द्रियों व मन के माध्यम से ही ज्ञान करते हैं तो फिर हमें अतीन्द्रिय आत्मज्ञान कैसे हो सकता है।

आजकल मैं प्रतिदिन आधा घंटा बालबोध पाठमालाएँ पढ़ता हूँ। उनमें से एक किताब में सात तत्त्वों व उनके संबंध में होने वाली भूलों के बारे में पढ़ा था। वैसे तो वे किताबें सरल हैं, आसानी से समझ आ जाती हैं; पर अभ्यास न होने से मुझे कुछ कठिनाई होती है।

मैं क्या बताऊँ, जीव व अजीव तत्त्व संबंधी भूल में कुछ अन्तर ही नहीं लगा। उसमें लिखा है जीव को अजीव मानना जीव तत्त्व संबंधी भूल है और अजीव को जीव मानना अजीव तत्त्व संबंधी भूल है। चाहे जीव को अजीव मानो या अजीव को जीव – बात तो एक ही है कि हम जीव-अजीव का भेद नहीं समझते हैं तो फिर ये दो भेद क्यों ?

जरा स्पष्ट करना। विशेष क्या ? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १५ नवम्बर १९९४ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। अरे, भाई! आत्मानुभूति के लिए विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं। मन सहित प्राणियों को जितना ज्ञान उपलब्ध है, वह आत्मानुभूति के लिए पर्याप्त है; क्योंकि हमारा जो ज्ञान पूर्व में इन्द्रियों व मन के द्वारा स्पर्शादि में प्रवर्त्तता था, वही ज्ञान आत्मानुभूति के समय सब ओर से सिमटकर केवल स्वरूप सन्मुख होता है।

हम संसारी जीवों के क्षयोपशम ज्ञान की यह विशेषता होती है कि वह एक समय में एक ही को लक्ष्य बना सकता है; अत: जब वह आत्मा को लक्ष्य बनाता है, तब पर-ज्ञेय स्वत: ही जानने में नहीं आते। इसलिए आत्मानुभूति के समय आत्मा इन्द्रिय के विषय स्पर्शादि में नहीं प्रवर्त्तता और न ही मन अनेक विकल्प करता है। इसप्रकार इन्द्रिय व मन दोनों ही अपने-अपने कार्य नहीं करते। यही कारण है कि आत्मानुभूति रूप क्षयोपशम ज्ञान को अतीन्द्रिय कहा जाता है।

केवलज्ञानी तो आत्मज्ञानी होते ही हैं, साथ ही साथ इन्द्रिय व मन सहित हम सब भी आत्मज्ञानी हो सकते हैं; क्योंकि अनुभव में मन संबंधी परिणाम स्वरूप में एकाग्र होकर अन्य चिन्ता का निरोध करते हैं। इसलिए इसे मन द्वारा हुआ भी कहते हैं।

तुमने लिखा कि बहुत ध्यान किया, पर आत्मानुभव होता ही नहीं। सो दोस्त किसी भी कार्य में सफल होने के लिए लगन चाहिए, लगन; धुन होनी चाहिए, धुन। जिसप्रकार माँ कहीं भी हो पर ध्यान उसका बच्चे पर ही रहता है, पत्नी कुछ भी कर रही हो पर ध्यान पति का ही करती रहती है; उसीप्रकार यदि आत्मा की धुन हो, लगन हो तो आत्मानुभव होगा, होगा और होगा ही।

तुम दिन-रात जिसके बारे में सोचते हो, विचार करते हो; वही तो तुम्हारे ध्यान में आएगा। यदि तुम दिन-रात आत्मा के बारे में सोचो, विचारो; तो

तुम्हारे ध्यान में भी आत्मा ही आएगा। तुम अपनी वृत्तियों को परखो, तुम अपनी रुचि को पहिचानों तो तुम स्वयं ही सब कुछ समझ जाओगे। जिसप्रकार जिस व्यक्ति को एक्टर बनना है, वह व्यक्ति प्रसिद्ध एक्टरों के बारे में सब कुछ जानने की कोशिश करता है, उसके जीवन की घटनाएं पढ़ता है, उसके करीब रहना चाहता है और दिन-रात उसी के बारे में सोचता है तथा स्वप्न भी उसी के देखता है; उसीप्रकार जब तुम एक आत्मा के ही बारे में सोचने लगो, एक आत्मा के अलावा तुम्हें कुछ नजर न आए, तब तुम समझना कि तुम्हें सच्ची लगन लगी है। जब सच्ची लगन लगेगी तो आत्मानुभूति होगी, होगी और होगी।

जब हम खेल में मग्न होते हैं तो हमें न भूख सताती है, न प्यास, न सर्दी, न गर्मी, चोट का भी हमें आभास नहीं होता। बस हम पूरी तरह खेल में रम जाते हैं। उसीप्रकार हम जब आत्मा में पूरी तरह रमेंगे, तब हमें न भूख सताएगी, न प्यास; न सर्दी का अहसास होगा, न गर्मी का और बाह्य प्रतिकूलताएं भी भासित नहीं होगीं। जब खेल में मग्न एक छोटे से बालक की यह दशा हो सकती है तो आत्मा में मग्न ज्ञानी की ऐसी दशा हो तो आश्चर्य क्या? बस हमें स्वयं में रमना है, तन्मय होना है। हमारे में सामर्थ्य है रमने की, तन्मय होने की। अभी हम पर में रमें हैं, शरीर में रमें हैं, अब हमें आत्मामय होना है, आत्मा में रमना है। जो बुद्धि पर की खोज में लगी है, उसे स्व में लगाना है। बस, यही समझ लो कि जब हमारा ज्ञान पर से हटकर स्वमय हो गया तभी आत्मानुभव हो गया, हमें अनन्त सुख का खजाना मिल गया; क्योंकि दृष्टि के अन्तर्मुख होते ही समस्त शुभाशुभ विकल्प जाल प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं, अन्तर में अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा दरिया उमड़ता है कि समाता ही नहीं। यह ज्ञान अन्तरोन्मुखी होने से एवं यह आनन्द पंचेन्द्रियों के विषयों से उत्पन्न हुआ न होने से अतीन्द्रिय व स्वाश्रित होता है। इस ज्ञानानन्द की दशा में बाहर की अनुकूलताएं-प्रतिकूलताएं भासित नहीं होती। यह आनन्द सिद्धों के आनन्द के समान ही है, यद्यपि अभी उसमें अपूर्णता है; तथापि है उसी जाति का।

तुमने लिखा कि चाहे जीव को अजीव मानो या अजीव को जीव – बात एक ही है, तो फिर दो भेद क्यों? तुम्हारी बात एक दृष्टि से सही है; क्योंकि जब स्वरूप की दृष्टि से विचार करते हैं तो भूल दोनों के ही संबंधों में हैं। पर ये दो भेद प्रयोजन की दृष्टि से किए गए हैं। जब हमारा उद्देश्य जीव के स्वरूप को जानना होता है और हम जब उसके संबंध में भूल करते हैं तो वह जीव तत्त्व संबंधी भूल होती है और जब हम अजीव को पहिचानने में भूल करते हैं तो वह अजीव तत्त्व संबंधी भूल होती है। जैसे संतरे को असंतरा (जो संतरा नहीं है ऐसे फल नींबू, मौसम्बी आदि) समझना संतरा संबंधी भूल है और मौसम्बी को अमौसम्बी (जो मौसम्बी नहीं है ऐसे फल नीबू, संतरा आदि) समझना मौसम्बी संबंधी भूल है अर्थात् जब हमारा उद्देश्य संतरा खाना हो और हम अन्य फल को संतरा समझकर खाएं तो वह संतरा संबंधी भूल कहलाएगी। इसीप्रकार जब हम जीव को अजीव समझते हैं तो वह जीव तत्त्व संबंधी भूल होती है। जैसे – मैं मोटा हूँ। यहाँ मैं अर्थात् जीव को मोटा अर्थात् शरीर (अजीव) माना गया है। अत: यह जीव तत्व संबंधी भूल है तथा जब अजीव को जीव मानते हैं तो वह अजीव तत्त्व संबंधी भूल होती है। जैसे – शरीर की उत्पत्ति में अपनी (आत्मा की) उत्पत्ति मानना। शरीर के नाश होने पर अपना नाश मानना।

अनादिकाल से हम यहीं भूल करते आ रहे हैं। शरीर को ही "मैं" मानते रहे हैं। अत: अज्ञानी हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। जबतक यह भूल रहेगी, तबतक आत्मानुभूति नहीं हो सकती। अत: आत्मानुभूति के लिए जीव-अजीव का भेदज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। जो कि जीव के वास्तविक स्वरूप को समझ कर ही हो सकता है।

विशेष क्या ? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. १६ दिसम्बर १९९४ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। मैं समझ गया कि आत्मानुभूति अर्थात् अपने आप में तन्मय होना। देखो भाई! कैसी विडम्बना है? हमें तन्मय होना भी आता है, एकाग्र होना भी आता है; क्योंकि तन्मयता व एकाग्रता के बिना हम किसी कार्य में सफल नहीं हो सकते। पर हम अभी पर में ही एकाग्र व तन्मय होते हैं, अपने में नहीं; अतः अब हमें दिशा बदलनी है, स्वात्मा में तन्मय व एकाग्र होना है।

जहाँ हमारी रुचि होती है, हमारी बुद्धि वहाँ ही चलती है। हमें वे ही बातें याद रहती हैं। आज तक हमारी आत्मा में अरुचि रही है। अतः उस विषय में हमने न बुद्धि चलायी है और न ही इसकी चर्चा-वार्ता में भाग लिया है, तो हमें आत्मा की बातें कैसे समझ आती, कैसे याद रहती? रुचि वाले विषय में ही हम तन्मय होते हैं। जब आत्मा की रुचि ही नहीं रही तो आत्मा में तन्मय कैसे होते? तन्मय हुए बिना अनुभव कैसे होता?

तुमने लिखा कि इस अनुभूति के काल में समस्त शुभाशुभ भाव प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं। तो तुम्हारा शुभाशुभ भावों से क्या तात्पर्य है? शुभभाव भी प्रलय को प्राप्त क्यों होते हैं? हम दो ही प्रकार के काम करते हैं – अच्छे व बुरे। अच्छे कामों में शुभभाव होते हैं व बुरे काम में अशुभभाव। हिंसादि कार्य अशुभभाव हैं। अतः वे तो नष्ट होने चाहिए। पर आत्मानुभूति आदि तो अच्छे भाव होने से शुभभावों में आते होंगे तो फिर ये भाव भी प्रलय को क्यों प्राप्त हों? इन शुभाशुभभावों से ही तो हम स्वर्ग जाते हैं। यदि ये भाव ही नष्ट हो जायेंगे, तो हम नरक जाने से कैसे बचेंगे, स्वर्ग कैसे जायेंगे, हमें सुख कैसे मिलेगा; आदि अनेकों प्रश्न खड़े हो गए हैं। अतः उनका समाधान करना।

विशेष क्या? घर में सबको यथायोग्याभिवादन।

पत्र देना,

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ३० जनवरी १९९५ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने लिखा कि भाव दो प्रकार के होते हैं। यह तो सही है, पर तुमने उनके जो दो नाम लिखे हैं; वे सही नहीं हैं; क्योंकि शुभ व अशुभ अशुद्ध भावों के भेद हैं। भाव दो प्रकार के होते हैं - शुद्ध व अशुद्ध। अशुद्ध भाव भी दो प्रकार के होते हैं - शुभ और अशुभ।

इनमें जो अशुद्ध भाव हैं, वे ही आत्मानुभूति के समय प्रलय को प्राप्त होते हैं, शुद्धभाव नहीं। तुम्हारे पत्र में जो कुछ लिखा है, उसमें शुद्धभाव को शुभभाव समझ लिया गया है। देखो विकार आत्मानुभूति शुभभाव नहीं, शुद्धभाव है; क्योंकि शुभाशुभ भावों में रागभाव होता है, शुद्धभाव वीतरागभावरूप है। आत्मानुभूति वीतरागभावरूप है; अत: शुद्धभाव है। तथा आत्मानुभूति प्राप्त करने के विकल्प शुभभाव हैं। ये शुभभावरूप विकल्प अशुभभावों के अभावपूर्वक होते हैं। ये शुभाशुभभावरूप विकल्प भी दो प्रकार के होते हैं। एक तो दया, दान, पूजादि के भाव व दूसरे आत्मा की खोज संबंधी शुभभाव। ये आत्मा की खोज संबंधी भाव ही तत्त्वविचार कहलाते हैं। आत्मानुभूति के समय अशुभभाव व दया-दानादि तथा तत्त्वविचार के शुभभाव प्रलय को प्राप्त होते हैं। इन शुभाशुभभावों के नष्ट होने से हम नरक व स्वर्ग दोनों ही गतियों में जाने से बच जाते हैं व पंचमगति मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

तुम्हारे पत्र से लगता है कि तुम स्वर्ग जाना चाहते हो व नरक से बचना चाहते हो। भाई! नरक के समान स्वर्ग में भी जन्म-मरण का दु:ख विद्यमान है; अत: अविनाशी मुक्ति हमारा ध्येय होना चाहिए, स्वर्ग नहीं।

गतियां चार होती हैं - नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

बहुत आरम्भ व बहुत परिग्रह रखने के भावरूप अशुभभावों से नरकगति का बंध होता है तथा अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रह एवं स्वभाव की सरलतारूप शुभभावों से मनुष्यगति का बंध होता है। इसप्रकार भावों की कुटिलता (मायाचार) छल-कपट आदि से तिर्यंचायु का बंध होता है तथा संयम के साथ रहने वाले शुभभावरूप रागांश, असंयमांश और मंदकषायरूप भाव व अज्ञानपूर्वक किए गए तपश्चरण के भाव देवायु के बंध के कारण हैं।

इसप्रकार शुभाशुभभावों के द्वारा प्राप्त इन गतियों में दु:ख ही दु:ख हैं। अत: शुद्धभावों द्वारा उपलब्ध परिपूर्ण सुख सहित एकमात्र पंचमगति ही सुखस्वरूप है।

आशा है अब तुम्हें समझ में आ गया होगा कि दु:खों से मुक्ति का एकमात्र उपाय आत्मानुभूति है।

तुम्हारा मित्र

विचार जैन

बम्बई, दि. २० फरवरी १९९५ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। सब बातें थोड़ी-थोड़ी समझ में भी आईं, परन्तु और बहुत से प्रश्न खड़े हो गये। अतः शास्त्रों को पढ़ने की जिज्ञासा हुई। मैंने मम्मी से पूछा कि कौनसा शास्त्र सबसे पहले पढ़ूँ तो उन्होंने पद्मपुराण का नाम लिया। इसे पढ़ने पर मेरी शंकाओं का कुछ भी समाधान नहीं हुआ, अपितु अनेकों सवाल और खड़े हो गए। सवाल क्या खड़े हुए, कहना यह चाहिए कि मुझे शास्त्रों में अश्रद्धा हो गई। बिना सिर-पैर की बकवास पढ़कर इसके अलावा और हो भी क्या सकता था? ये पोंगा-पंथी बातें मुझे बिल्कुल पसंद नहीं। ये सब देखकर ही मैं मंदिर व शास्त्रों से दूर भागता था, पर तुम्हारी तार्किक बातें पढ़कर मेरा रुझान शास्त्रों की ओर हुआ था। पता नहीं ऐसे शास्त्र आचार्य बनाते ही क्यों हैं? अब तुम्हीं बताओ ये सब बातें विश्वास योग्य हैं क्या ?

पद्मपुराण में सबकी आयु हजारों साल की बतायी है। सबका शरीर कहीं ३०० धनुष तो कहीं ४००। अधिक से अधिक ५२५ धनुष का शरीर हो सकता है। ४ हाथ अर्थात् ६ फुट का एक धनुष होता है। इस हिसाब से आदमी की लम्बाई ३१५० फुट हो गई। अब हम ३१५० फुट के आदमी की कल्पना भी कर सकते हैं क्या? ऐसे लम्बे आदमियों की आयु अधिक से अधिक १ करोड़ पूर्व बताई। पता नहीं ये 'पूर्व' किस बला का नाम है, पर एक करोड़ साल की आयु भी मानों तो जहाँ १०० साल जीना मुश्किल है, वहाँ १०० लाख साल जीने की कल्पना? तौबा, तौबा!? सबकी हजारों शादियां, बच्चों का तो कहना ही क्या है? सबके पास अजूबे विमान जो कि बिना पायलट के ही चलते हैं, कुछ-कुछ को तो सीधा ही आसमान में उड़ा दिया, बस विद्या के बल पर। यदि ऐसी विद्याएं होती हैं तो आज क्यों नहीं दिखतीं। आजकल तो एक भी विद्या नजर नहीं आती। युद्ध में भी एक रावण हजार नजर आता है। आज तो हमें कोई व्यक्ति ऐसा नजर नहीं आता। युद्ध में काम में आने वाले बाण भी एक से एक जोरदार। एक बाण अग्नि की वर्षा करता है तो दूसरा पानी की। एक बाण अंधकार कर देता है तो दूसरा प्रकाश – भला ये सब काल्पनिक दुनिया की बातें नहीं लगती क्या? दशरथ का पुतला बना दिया,

जिसे लोग असली समझने लगे। भला असली व नकली में अन्तर समझ नहीं आता क्या? पुतले को कोई जिन्दा आदमी कैसे समझ सकता है?

क्या तुम इन सब बातों को सही मानते हो? क्या ये सब सच हो सकता है? मुझे तो सब बकवास लगता है।

पर कुछ बातें पद्मपुराण की जमीं भी, जो दूसरी रामायणों से भिन्न हैं। जैसे कि हनुमान बन्दर नहीं, दशानन राक्षस नहीं, सुग्रीवादि वानर नहीं, अपितु ये सब उनके वंशों के नाम हैं। यही कारण है कि रावणादि को राक्षस और हनुमानादि वानर कहा जाता है। इसप्रकार के प्रयोग आज भी होते हैं। आखिर हम यदुवंशियों को यादव कहते ही है न?

इस रामकहानी में सीता व रावण की आयु में काफी अन्तर है। इसमें लिखा है कि जब रावण दिग्विजय के लिए निकला था, तब दशरथ एक माह के थे व उनके पिता व भाई ने दीक्षा ले ली थी अर्थात् रावण राम के दादा की उम्र का था। अभी तक तो मैं राम रावण को हम उम्र ही समझता था। ऐसे बुढ़ापे में भी सीता का अपहरण? यह 'चढ़ी जवानी बूढ़े को' के अतिरिक्त और क्या है? अरे भाई! उसके बुढ़ापे में भी क्या दम-खम रहा होगा? खैर छोड़ो इन बातों को।

एक बात बता तूने 'जुरासिक पार्क' पिक्चर देखी क्या? वैसे तो मैं जानता हूँ कि तू पिक्चर से परहेज करता है। पर ये चालू पिक्चर नहीं है, यह उनसे अलग हटकर है, बहुत ही अच्छी है। इसमें एक विशालकाय प्राणी डायनासोर के बारे में बताया है, जो कि हाथी से भी कई गुना बड़ा है। देखो प्राचीनकाल में इस पृथ्वी पर इतने बड़े प्राणी थे, जो कि आज विलुप्त हो गए हैं। पिक्चर इस ढ़ंग से बनाई गई है कि वे सभी जीवित प्राणी से ही लगते हैं। जिसप्रकार हाथी के सामने चींटी हो, उसीप्रकार डायनासोर के सामने हाथी लगे। कल्पना करो उसकी विशालता का। तुम इसे जरूर देखना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. १५ मार्च १९९५ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने जो पद्मपुराण पढ़ा, वह प्रथमानुयोग का शास्त्र है। शास्त्रों के कथन करने की पद्धति को अनुयोग कहते हैं। वे चार प्रकार के होते हैं – प्रथमानुयोग, करुणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

जैसे किसी पिता के चार बेटे हैं। वह उन्हें सुखी व सम्पन्न देखना चाहता है; अत: उन्हें अर्थकरी विद्या पढ़ाना चाहता है; पर एक लड़के की रुचि खेल-कूद में है, दूसरे की गणित में, तीसरे की नैतिक काम में व चौथे की साहित्य में। समझदार पिता तो अपने बेटों को उनकी रुचि के अनुसार ही शिक्षा देगा; क्योंकि उसका उद्देश्य उन्हें आर्थिक रूप से सम्पन्न देखना है। चाहे वे बेटे खेल कर पैसा कमाएं या पढ़कर। इसीप्रकार आचार्यदेव का उद्देश्य जीवों को सुखी देखना है, तत्त्वज्ञान देना है। चाहे जीव कहानी के माध्यम से समझें या गणित के माध्यम से या साहित्य से – इसे ही दृष्टि में रखकर आचार्यों ने जिनवाणी के चार अनुयोगों में विभक्त की है। खेलकूद वाले बेटे के लिए कहानी के माध्यम से प्रथमानुयोग में तत्त्वज्ञान कराया है। गणित रुचिवाले को करणानुयोग के माध्यम से, नैतिकतावाले को चरणानुयोग के माध्यम से तथा साहित्य रुचिवाले को द्रव्यानुयोग के माध्यम से तत्त्वज्ञान कराते हैं।

तुमने लिखा तो मैं प्रेरित होकर ज्यूरासिक पार्क देखने चला गया। बस मुझे उसी पिक्चर में तुम्हारी सारी बातों का जवाब मिल गया और मुझे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आने लगा। अपने आपको बड़ा माडर्न कहते हो। पर जरा विचार करो कि अपने ही पत्र में जहाँ एक ओर तुम जिस लंबाई को लेकर आचार्यों की मजाक उड़ा रहे थे, वहीं दूसरी ओर एक प्राणी की वैसी ही लम्बाई को लेकर फिल्म बनाने वाले की प्रशंसा कर रहे थे। लगता है तुम्हें प्राणियों की लम्बाई से कोई ऐतराज नहीं; बस आचार्यों पर ऊंगली उठानी है। तुम्हारा ही क्या सारे जगत का यही हाल है। देखो शास्त्रों में लिखा है कि पहले लंबाई व आयु दोनों ही अधिक थीं। धीरे-धीरे उनका ह्रास हो रहा है। चौथे काल के आरम्भ में अधिक से अधिक लम्बाई ५२५ धनुष व आयु १ करोड़ पूर्व थी। धीरे-धीरे

दोनों का ही ह्रास होता रहा व चौथे काल के अन्त में हुए पार्श्वनाथ की काया १० हाथ व आयु १०० वर्ष रह गयी। उसके बाद महावीर की ७ हाथ की काया व ७२ वर्ष की आयु थी। अभी हम सब देख भी रहे हैं कि कुछ अपवादों को छोड़कर औसत आयु ७०-८० वर्ष की ही रह गई है तथा जहाँ तक लम्बाई का सवाल है सो हमने ६ फुट के आदमी भी देखें हैं व ३-४ फुट के भी, जिन्हें हम बौने कहते हैं। मानव के अनुपात में ही जानवरों की आयु व लम्बाई कम हो रही है। कम होती लम्बाई व आयु हम देख रहे हैं तो पहले अधिक आयु व अधिक लम्बाई से हम इन्कार कैसे कर सकते हैं?

मुझे तो लगता है कि जिस समय आदमी की लम्बाई ३१५० फुट रही होगी; उस समय के जानवर भी बड़े होते होंगे, जिसका प्रमाण डायनासोर है। जिस प्रकार आज हाथी व आदमी का अनुपात है, वही अनुपात उस समय डायनासोर व आदमी का रहा होगा। डायनासोर की सत्ता ही यह सिद्ध करती है कि पुरातन काल में जीव-जन्तु व आदमी की लम्बाई अधिक रही होगी।

पर यह सब सोच-विचार का समय हमें कहाँ? बस माडर्न होने के जौम में हम इतने संकीर्ण मस्तिष्क वाले हो गए हैं कि अपने ही सदाचारी निर्ग्रंथ (वीतरागी) गुरुओं की वाणी पर तो संदेह करते हैं, उन्हें गलत जानते हैं और जो शराबी-कवाबी हैं, उन्हें प्रामाणिक मानते हैं। हमारे वीतरागी गुरुओं की वाणी उन रागी, मानी वैज्ञानिकों से सिद्ध होती है तो सही है, अन्यथा गलत। गुरु की बात मानना रूढ़िवादिता है, पोंगापन है और वही बात वैज्ञानिक कहें तो आधुनिकता है, जैसे गुरुओं के कहे अनुसार पानी छानकर पिया तो हम पोंगापंथी हो गए व वैज्ञानिकों के अनुसार फिल्टर पानी पिया तो आधुनिक। मैं पूछता हूँ - दोनों में क्या अन्तर है? यथार्थ तो यह है कि आज के वैज्ञानिक तो हमारे गुरुओं की एवं उस समय की प्रगति के सामने कुछ भी नहीं है।

आज के वैज्ञानिक जिन चीजों की कल्पना करते हैं, वे ही बातें उस समय पूर्ण विकसित थीं। बस नामों का ही अन्तर है। जिसे पुरातन काल में विमान कहते थे, वही आज के एरोप्लेन हैं। आज के प्लेन तो पायलट से चलते हैं, पर पहले के तो इच्छा से कंट्रोल किए जाते थे। बिना ड्राइवर की कार आज तो आश्चर्य का विषय है, वह पहले हुआ करती थी। ऐसा पैराशूट भी था,

जिसके बल पर आसमान में उड़ा जा सकता था। रावण ने सीता को बचाने वाले जटायु का पैराशूट ही फाड़ दिया था। अत: वह उड़ने में असमर्थ हो नीचे आ गिरा था। रावण के पास निजी विमान था। उस समय युद्ध में प्रयोग में आने वाले हथियारों का भी आज से अधिक विकास था। आज की 'मिसाइल' व उस समय के बाण एक ही कार्य करते हैं। जिसप्रकार मिसाइल की काट आज विद्यमान है; उसीप्रकार बाणों की काट उस समय विद्यमान थी। बस नामों का ही अन्तर है। उस समय नाम सार्थक हुआ करते थे। अग्निबाण अग्नि की वर्षा करता था और उसकी काट करने को मेघबाण था जो कि पानी की वर्षा करता था। इसीप्रकार नागबाण, मयूरबाण, सर्पबाण, गरुणवाण, अंधकारबाण, प्रकाशबाण - आदि अनेक प्रकार के बाण थे।

जहाँ तक रावण के दशमुख होने अथवा युद्ध में अनेक रावण नजर आने की बात है तो क्या ईराक युद्ध के समय सद्दामहुसैन १०-१२ नजर नहीं आते थे। जहाँ तक पुतले को असली समझने की बात है, तो आज भी डमी बनती है, व दूर से देखने पर असली सी ही लगती है। ये सब बातें मैंने उदाहरण के रूप में ही कही है; पर मेरा प्रश्न यह है कि जिनके उदाहरण आज नहीं मिलेंगे, पुरातन काल की वे बातें क्या सही नहीं होगी? यह हम कैसे कह सकते हैं कि ऐसा होते मैंने नहीं देखा; अत: ऐसी बात हो ही नहीं सकती। यदि वैज्ञानिकों ने सिद्ध नहीं किया तो उनकी सत्ता से ही इन्कार करना कहाँ तक न्यायसंगत है?

दोस्त मेरे! वास्तविकता तो यह है कि जितने प्रामाणिक पुरातत्वीय शिलालेख आदि हैं, साहित्य भी उतना ही प्रामाणिक है। हमें अपने पूर्व पुरुषों का ज्ञान एवं हमारे ज्ञान का विकास साहित्य से ही होता है। साहित्य से रहित जीवन की क्या कभी कल्पना भी की है? पशुओं का जीवन साहित्य विहीन होता है? तो क्या तुम पशु जैसा जीवन चाहते हो? नहीं तो फिर साहित्य में उल्लिखित बातों पर संदेह क्यों? आखिर क्यों? क्यों?? क्यों??? जरा विचार करना।

आपका मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. २० अप्रेल १९९५ ई.

डियर विचार

तुम्हारा पत्र मिला। जरा विचार किया तो पाया कि जिस साहित्य के बल पर हम सोचने-विचारने के काबिल हुए हैं, जिससे हमें अपने पूर्वजों का ज्ञान होता है; उसी पर आज हम संदेह करने लगे हैं। आत्मा-परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि के बारे में हमें जानकारी कैसे मिलती है? आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर थे और महावीर अंतिम – ये सब हमने कैसे जाना? ग्रन्थों को पढ़कर ही न। पर आधुनिक कहलाने की होड़ में हम इन पर ही ऊँगली उठाने लगे। आखिर क्यों? क्यों?? क्यों???

यदि हम साहित्य को सम्पूर्णतः नकारना चाहते हैं तो फिर हमें प्रत्येक कार्य ए.बी.सी.डी. से प्रारंभ करना होगा। साहित्यविहीन जीवन की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे मुँह से निकला एक-एक शब्द साहित्य की ही देन है।

तुम्हारे पत्र ने मुझे अन्दर तक झकझोर डाला। मैंने अपना विश्लेषण किया तो पाया कि मैं कितना गलत था? बिना सोचे-समझे अपने वीतरागी आचार्यों पर ही ऊँगली उठाने लगा था, भगवद् वचनों पर ही प्रश्नचिन्ह लगाने लगा था। मान का पोषण करनेवाली ये लौकिक पढ़ाई नहीं करनी मुझे!

पढ़ाई! पढ़ाई!! पढ़ाई!!! आखिर किसलिए? क्या सिर्फ पढ़ना ही हमारा ध्येय है? नहीं, यह तो साधन है, साध्य नहीं। फिर साध्य क्या? पैसा कमाना, आजीविका चलाना। पर पैसा भी तो बिना पुण्य के नहीं मिलता। पढ़ेंगे, पढ़ेंगे; जीवन के अमूल्य पच्चीस वर्ष इसमें नष्ट करेंगे। फल क्या मिलेगा? नौकरी, गुलामी। ऐसी पढ़ाई से क्या लाभ, जिससे गुलामी हासिल हो। नहीं, मैं गुलामी नहीं करना चाहता। मैं स्वाधीन रहना चाहता हूँ, स्वाधीन। पर इसके लिए क्या करूँ, क्या नहीं? समझ नहीं आ रहा।

अब मुझे लगने लगा है कि मेरी रुचि बदल रही है, मेरे मापदंड भी बदल रहे हैं और मेरा लक्ष्य भी बदल रहा है, फिर भी मैं अभी निश्चित दिशा तय नहीं कर पा रहा हूँ।

खाना-पीना, सोना-कमाना, यही मेरा जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। मुझे कुछ और चाहिए, इस सबके अतिरिक्त; क्योंकि ऐसा जीवन तो पशुओं का ही होता है। खाने की व्यवस्था में वे भी दिन-रात व्यस्त रहते हैं और हम भी। पशु तो पेट भरने पर आराम से सो जाते हैं, पर हम मानव पेटी भरने के चक्कर में न भर पेट खा सकते हैं, न चैन की नींद सो सकते हैं। मैं इस पेट व पेटी के चक्कर में नहीं फंसना चाहता। इस सबसे अलग कुछ करना चाहता हूँ। पर वह 'कुछ' क्या हो? अभी समझ नहीं पा रहा हूँ। अतः बैचेनी बहुत है।

इसप्रकार विचारों की भूल-भुलैया में भटका मेरा मन पढ़ाई से उचट गया है। तुम्हीं बताओ, अब मैं क्या करूँ? फिलहाल तो मैं धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-मनन कर रहा हूँ; क्योंकि उन्हें पढ़ने से उद्विग्नता समाप्त होती है, शांति मिलती है।

अच्छा एक बात बताओ। जैनदर्शन के हिसाब से ये जगत कैसे बना? इसका संचालन कौन करता है? सब कार्य अपने नियत समय पर कैसे हो जाते हैं? क्या ये सब व्यवस्था तीर्थंकर भगवान द्वारा की जाती है? लिखना।

विशेष क्या? पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. २१ मई १९९५ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने सही लिखा है आज मानव की विचारधारा संकीर्ण हो गई है, सोचने का दायरा भी सीमित हो गया। उनका तो सिद्धांत बन गया है कि –

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुतः॥

जबतक जीवन है, सुख से जियो और कर्जा करके भी घी पियो अर्थात् मोजमस्ती से रहो; क्योंकि यह देह तो एक न एक दिन भस्म हो जाने वाली है। इसका दुबारा मिलना तो संभव नहीं है।

आज प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इसी सिद्धान्त पर चल रहा है। प्रत्येक मानव येन-केन-प्रकारेण एकमात्र अर्थ (धन) को ही प्राप्त करना चाहता है, बस एक ही ध्येय रह गया है उसका। वे ज्ञानार्जन भी इसीलिए करते हैं। 'ज्ञानार्जन' जो कि साध्य होना चाहिए था, वह आज मात्र साधन बन कर रह गया है। अर्थ व काम – बस यही जीवन का ध्येय रह गया है। आज अर्थरहित ज्ञान व धर्म का जीवन में कुछ महत्त्व नहीं है। अतः सभी अर्थकरी विद्या ग्रहण का ही उपदेश देते हैं। वे कहते हैं आखिर यही तो उम्र है अर्थोपार्जन करानेवाली विद्या हासिल करने की। धर्म करने को, पढ़ने को तो उम्र पड़ी है। पर मैं कहता हूँ कि यही तो उम्र है ज्ञानार्जन की। जब हम नोन, तेल, लकड़ी की व्यवस्था में उलझ जाएंगे तो कैसे कर पाएंगे ज्ञानार्जन? फिर दिन-प्रतिदिन ज्ञानार्जन की शक्ति भी तो क्षीण होती जाती है। जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं; तब कैसे करेंगे धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन ?

तुम्हारी मनःस्थिति को मैं अच्छी तरह समझ सकता हूँ। मैं तो पहले ही जानता था कि एक दिन तुम्हारे साथ यह स्थिति आएगी; अतः विषय का चयन

करते समय तुम्हें आगाह भी किया था। खैर छोड़ों बीती बातों को। फिलहाल तुम अपने आपको संभालों। अभी भी विशेष देर नहीं हुई है, पर अब तुम अपना उद्देश्य निश्चित कर लो, बहुत समय तक असमंजस में रहना अच्छा नहीं है।

न ही तुम ऐसा करो कि अध्ययन-मनन धर्म का करते रहो व परीक्षा दूसरे विषय की दो; क्योंकि दो नावों पर सवारी करने से डूब जाने का भय रहता है। अत: यदि अब तुम्हें धार्मिक अध्ययन-मनन का रस लग गया है तो तुम उसी क्षेत्र में उतर जाओ। पर इस वर्ष तो जो पढ़ाई तुम कर रहे हो, उसे ही पढ़ो; बस माह भर की तो बात है। फिर अगले वर्ष व्यवस्थित रूप से धार्मिक अध्ययन-मनन करने के लिए जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में प्रवेश ले लेना।

जैनदर्शन के अनुसार वस्तु की व्यवस्था क्या है? यह जानने की जिज्ञासा तुमने जाहिर की है।

देखो विकार जैनदर्शन ऐसे किसी 'भगवान' या 'ईश्वर' को नहीं मानता, जिसने इस जगत को बनाया हो, जो जगत का नाश करेगा या जगत् का संचालन करेगा और तीर्थंकर भगवान तो वीतरागी होते हैं; अत: उनके द्वारा तो कोई व्यवस्था बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जैनदर्शन के अनुसार यह जगत स्वयं परिणमनशील है। वस्तु के स्वभाव में ही यह बात पड़ी है कि वह प्रतिसमय घंटा बदलकर भी कायम रहे व कायम रहकर भी बदलती रहे। इस जगत की इस स्वचालित व्यवस्था का नाम ही क्रमबद्धपर्याय है; जिसके बारे में पूर्व पत्रों में हमने चर्चा की है।

विशेष क्या, पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

बम्बई, दि. २५ जून १९९५ ई.

प्रिय विचार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। अभी तक तो मैं खाना-पीना, पहिनना-ओढ़ना आदि अपनी इच्छाओं की पूर्ति में सुख की तलाश में भटक रहा था।

किन्तु अब मुझे दिशा मिल गई है। अतः मैं अपने अमूल्य मानव जीवन का एक क्षण भी बर्बाद नहीं करना चाहता। माह भर तो बहुत दूर की बात है, मेरा मन अब कहीं नहीं लगता। अतः लौकिक परीक्षा तो मैं इस वर्ष नहीं दूँगा। आखिर क्या हासिल होगा ये परीक्षा देकर एक दिन भी इसके अध्ययन में बर्बाद क्यों करूँ? आखिर क्यों? क्योंकि कल का दिन किसने देखा है? आज का दिन खोएँ क्यों? किसी ने सही कहा है –

"जब आतम अनुभव आवे, तब और कछु न सुहावे।
रस नीरस हो जात तत्क्षण, अक्ष विषय नहीं भावे।"

फिलहाल अभी मुझे आत्मा का अनुभव तो नहीं हुआ, किन्तु मैं यह तो कह ही सकता हूँ कि –

"जब आतम रुचि लागे, तब और कछु न सुहावे।"

'अनुभव' किसे कहते हैं? जिसके होने पर पंचेन्द्रियों के विषय-भोग भी आकर्षित नहीं करते। लिखना,

विशेष क्या। पत्र देना।

तुम्हारा मित्र
विकार जैन

भोपाल, दि. ३० जुलाई १९९५ ई.

प्रिय विकार

जयजिनेन्द्र

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता हुई। इस मानव जीवन के एक-एक दिन की कीमत के बारे में तुम्हारे विचार पढ़कर अनिवर्चनीय आनन्द हुआ।

तुम्हारे जीवनरूपी पतंग की डोर, जो कि परोन्मुखी थी, अब स्वोन्मुख हो गई है, अपनी डोर अपनी ओर हो गई है। अब तो तुम भी दूसरों का मार्गदर्शन कर सकते हो तथा धार्मिक अध्ययन-मनन से तुम्हारी शंकाओं का समाधान स्वयं ही हो जाएगा। अत: अब तुम्हें मेरे पत्रों की आवश्यकता नहीं रही।

अनुभव के बारे में संक्षेप में कहूँ तो नाटक समयसार में कहा है कि -

"वस्तु विचारत ध्यावतें, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताकौ नाम॥"

आशा है अब तुम्हें मेरे पत्रों की प्रतीक्षा नहीं रहेगी; क्योंकि जो तुम मुझसे पूछते रहे हो, वह सब शास्त्रों के स्वाध्याय से तुम्हें वहीं उपलब्ध हो जावेगा। मैं भी अब पत्रों के लम्बे-लम्बे उत्तर देने की स्थिति में नहीं हूँ। मैं तो अब पूरी तरह अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ में लगना चाहता हूँ; क्योंकि एक आत्मा ही सार है और सब असार है, संसार है।

अंत में मैं तुम्हारे मंगलमयी जीवन की मंगलकामना करता हुआ विराम लेता हूँ।

तुम्हारा मित्र
विचार जैन

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करने वाले दातारों की सूची

१००० रु. प्रदान करने वाले – श्री सुशीलकुमार रंगलालजी बोडा उदयपुर • गुप्तदान हस्ते सुजानमलजी गदिया, उदयपुर • पण्डित अनन्तराज तूपकर, शास्त्री, सोलापुर • श्रीमती भानुबेन लवजीभाई जाला, बम्बई • श्री शामजी भाणजी शाह, गोरेगाँव, बम्बई • गुप्तदान श्रीमती कमलाबाई ध.प. श्री छीतरमलजी, बिजौलिया • श्रीमती भावना सचिनभाई, बम्बई • श्रीमती सुनीता नितिनभाई शाह, बम्बई • श्रीमती मंजुलाबेन सवाईलाल डगली परिवार बम्बई, • श्रीमती कंचनबेन बलवंतराय पारेख, बम्बई • श्रीमती कैलाशबेन विनोदचन्द रायचन्द शाह, बम्बई

५०० रु. प्रदान करने वाले – श्री विमलचन्दजी जैन, 'नीरू केमिकल्स', दिल्ली • श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल हस्ते राजूभाई, कानपुर।

२५१ रु. प्रदान करने वाले – श्री विनयदक्ष चैरिटेबल ट्रस्ट, बम्बई • श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज • श्रीमती कान्ताबाई ध.प. श्री पूनमचन्दजी छाबड़ा, इन्दौर • श्री नरेन्द्रकुमारजी जैन, खतौली • ब्र. श्रीचन्दजी सोनगढ़ • श्री प्रेमचन्दजी जैन, सोनीपत • प्रो. कृष्णाराव ए. गोसावी, औरंगाबाद।

२०१ रु. प्रदान करने वाले – श्रीमती पानादेवी ध.प. श्री मोहनलालजी सेठी, गोहाटी • श्रीमती इन्द्रमणीदेवी ध.प. श्री आनन्दीलालजी, रामगढ़ • श्री हजारीलाल फूलचन्दजी गोयल, भोपाल • श्री फूलचन्द विमलचन्दजी झाँझरी, उज्जैन • श्रीमती सुशीलाबाई ध.प. श्री नन्दनकुमारजी सिंघई, इन्दौर • श्रीमती राजकुमारी ध.प. श्री कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर • चौधरी फूलचन्दजी जैन द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, बम्बई • श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमारजी जैन, बैंगलोर।

१५१ रु. प्रदान करने वाले – श्रीमती कमलादेवी, जयपुर • श्री जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, बम्बई • ब्र. हीरालाल खुशालचन्द दोशी, माण्डुवे।

१०१ रु. प्रदान करने वाले – श्रीमती गुलाबीदेवी ध.प. श्री लक्ष्मीनारायणजी रारा, शिवसागर • श्री खेमराजजी गंगवाल, खातेगाँव • श्रीमती ज्ञानमती ध.प. श्री प्रकाशचन्दजी जैन, सिरसागंज • श्री माणकलालजी ठाकुरिया, उदयपुर • श्री छगनलाल महेन्द्रकुमारजी, जयपुर • श्री देवीलाल मेहता, उदयपुर • श्री जे.डी. जैन, धामपुर • श्रीमती कस्तूरीदेवी ध.प. स्व. श्री कल्याणदासजी जैन, राजाखेड़ा • श्रीमती गुलकन्दीदेवी ध.प. श्री हीरालालजी जैन, राजाखेड़ा • श्रीमती सूरजदेवी, दिल्ली।

१६०२१ रु. योग